रश्मियां आर्हत वाङ्मय की

संवाद भगवान से

२

आचार्य महाश्रमण

संवाद भगवान से

(भाग-२)

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्वभारती, लाडनूं

ISBN No. - 978-81-7195-163-5

प्रथम संस्करण : अक्टूबर २०१०
द्वितीय संस्करण : अगस्त २०११
तृतीय संस्करण : जनवरी २०१२
चर्तुथ संस्करण : जनवरी २०१३

मूल्य : ७०/- (सत्तर रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि. उदयपुर 2418482

अर्हम्

भाषण देना मेरा दैनन्दिन कार्य बना हुआ है। मैं आगमाधारित वक्तव्य देता रहा हूं। उन वक्तव्यों के आधार पर कुछ निबन्ध भी बन जाते हैं और उन निबन्धों के आधार पर कभी-कभी पुस्तक भी बन जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'संवाद भगवान से' उसी प्रक्रिया से निष्पन्न हुई है। साध्वी सुमतिप्रभा ने वक्तव्यों का निबन्धीकरण किया और निबन्धों का पुस्तकीकरण किया। इस कार्य में उसका श्रम श्लाघनीय है। मेरा कार्य वक्तव्य देना है जो कि पुस्तक का मूल आधार है। उसके बाद की प्रक्रिया से मैं लगभग अस्पृष्ट रहा हूं। पुस्तक को सौष्ठव तक पहुंचाने में मुनि कुमारश्रमण व मुनि विश्रुतकुमार ने अपनी मेधा का उपयोग किया है।

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी और परम पूज्य आचार्य महाप्रज्ञ के चरणों में प्रस्तुत पुस्तक को समर्पित करता हूं। पाठकों के लिए यह सामग्री आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाली बने। शुभाशंसा।

आचार्य महाश्रमण

कहां क्या मिलेगा ?

१. विनिवर्तना से क्या मिलेगा ? १

२. सम्भोज-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? ६

३. उपधि-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? १०

४. आहार-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? १४

५. कषाय-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? १८

६. योग-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? २३

७. शरीर-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? २८

८. सहाय-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? ३२

९. भक्त-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? ३७

१०. सद्भाव-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ? ४३

११. प्रतिरूपता से क्या मिलेगा ? ४८

१२. वैयावृत्त्य से क्या मिलेगा ? ५४

१३. सर्वगुणसंपन्नता से क्या मिलेगा ? ५७

१४. वीतरागता से क्या मिलेगा ? ६३

१५. क्षांति से क्या मिलेगा ? ६८

१६. मुक्ति से क्या मिलेगा ? ७३

१७. ऋजुता से क्या मिलेगा ? ७८

१८. मार्दव से क्या मिलेगा ? ८२

१९. भावसत्य से क्या मिलेगा ? ८६

२०. करणसत्य से क्या मिलेगा ? ९०

२१. योगसत्य से क्या मिलेगा? ९३

२२. मनोगुप्तता से क्या मिलेगा? ९७

२३. वाग्-गुप्तता से क्या मिलेगा? १०१

२४. काय-गुप्तता से क्या मिलेगा? १०५

२५. मन-समाधारणा से क्या मिलेगा? १०९

२६. वचन-समाधारणा से क्या मिलेगा? ११२

२७. काय-समाधारणा से क्या मिलेगा? ११६

२८. ज्ञान-सम्पन्नता से क्या मिलेगा? ११९

२९. दर्शन-सम्पन्नता से क्या मिलेगा? १२३

३०. चारित्र-सम्पन्नता से क्या मिलेगा? १२८

३१. श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा? १३४

३२. चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा? १३८

३३. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा? १४२

३४. जिह्वा-इन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा? १४६

३५. स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा? १४९

३६. क्रोध-विजय से क्या मिलेगा? १५२

३७. मान-विजय से क्या मिलेगा? १५६

३८. माया-विजय से क्या मिलेगा? १६०

३९. लोभ-विजय से क्या मिलेगा? १६४

४०. राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय से क्या मिलेगा? १६७

१

विनिवर्तना से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**विणियट्टणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! विनिवर्तना (इन्द्रियों और मन के विषयों से दूर रखने) से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ, पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ।** विनिवर्तना से वह नए सिरे से पापकर्मों को नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा के द्वारा उसका निवर्तन कर देता है। इस प्रकार वह पापकर्म का विनाश कर देता है। उसके पश्चात् चार गति रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को पार कर जाता है।

विनिवर्तना अध्यात्म-साधना का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। आत्मा अपने आपमें शुद्ध है। परन्तु संसारी अवस्था में वह कर्मों से आबद्ध भी है। राग-द्वेष के भाव अनादिकाल से उसके साथ जुड़े हुए हैं। इसलिए जब-जब राग-द्वेष के भाव प्रबल बनते हैं, तब-तब चेतना मलिनता को प्राप्त हो जाती है। उसके योग से पुनः राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है और पुनः चेतना मलिन बन जाती है। यह एक चक्रक है। इससे छुटकारा पाने का उपाय है—विनिवर्त्तना। हमारी इन्द्रियां विषयों की ओर धावन करती हैं। विषयों के प्रति आकर्षण होता है। मनोज्ञ शब्द को सुनने की, मनोज्ञ रूप को देखने की, सुगंध को सूंघने की, मनोज्ञ पदार्थ को खाने की और मनोज्ञ स्पर्श को छूने की भावना रहती है। हम

इन्द्रियों को बाह्य आकर्षणों से बचाए रखें, यह विनिवर्त्तना है। हमारे सामने कितना ही सुन्दर रूप हो, आसक्ति के साथ उसे देखने की प्रवृत्ति न हो। कितने ही कर्णमधुर और कर्णसुखद शब्द आ रहे हों, उन्हें आसक्ति के साथ सुनने का प्रयास न करें। कोई हमारी प्रशंसा करता है तो हमारा मन उन प्रशंसा भरे शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक हो जाता है। कोई हमारी आलोचना करता है तो वे आलोचनापूर्ण शब्द कर्णकटु बन जाते हैं, अप्रिय लगने लगते हैं। उन्हें सुनने की इच्छा नहीं होती। इसका मतलब यह हुआ कि मनोज्ञ शब्दों के प्रति हमारा आकर्षण है और अमनोज्ञ शब्दों के प्रति हमारा विकर्षण है। विनिवर्तना यह है कि मनोज्ञ शब्द आ रहे हैं तो भी साधक उनको सुनने के लिए उत्सुक न बने। उनमें प्रीति का, राग का अनुभव न करे, शांत भाव से उनको सुन ले। उस आसक्ति से अपने आपको हटा ले। प्रश्न हो सकता है कि आसक्ति को कैसे तोड़ा जा सकता है? दसवेआलियं में एक सुन्दर निर्देश दिया गया है—**भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे।** जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खींच जाती है, वैसे ही जिस रूप के प्रति मन में आकर्षण है, उसको देखो मत। आंखों को वहां से हटा लो। आसक्ति को तोड़ने की दिशा में कुछ कदम आगे बढ़ा जा सकता है।

इसी प्रकार मनोज्ञ शब्दों को सुनने की इच्छा होती है। वहां से भी साधक अपने आपको हटा ले, ताकि इन्द्रियों का प्रयोग विषयों में न हो। इस प्रकार विषयों से इन्द्रियों को हटाना प्रतिसंलीनता की साधना है। निर्जरा के बारह भेदों में बाह्य तप के छह भेद हैं। उनमें अंतिम भेद है—प्रतिसंलीनता। जैन सिद्धांत दीपिका में प्रतिसंलीनता को परिभाषित करते हुए बताया गया—**इन्द्रियादीनां बाह्यविषयेभ्यः प्रतिसंहरणं प्रतिसंलीनता** इन्द्रिय आदि का बाह्य विषयों से प्रतिसंहरण करना यानी उनकी बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। महर्षि पतञ्जलि ने पातञ्जल योगदर्शन में अष्टांग योग की सुन्दर समायोजना की है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधानचिन्तामणि' में अष्टांग योग को संकलित किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग हैं। इनमें एक है—प्रत्याहार। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रत्याहार को परिभाषित करते हुए लिखा है—**प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृतिः** इन्द्रियों को विषयों से हटाने का नाम है—प्रत्याहार। जैन साधना पद्धति की प्रतिसंलीनता और

पातञ्जल योग की प्रत्याहार की साधना, इन दोनों में काफी साम्य है। यह विनिवर्तना का एक स्वरूप है। प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति में सर्वेन्द्रिय संयम का प्रयोग कराया जाता है। उसमें अपने दोनों हाथों की तर्जनी अंगुली से दोनों आंखों को बन्द किया जाता है। मध्यमा से दोनों नथुनों को, अनामिका और कनिष्ठा से दोनों होठों को और अंगुष्ठ से कानों को बन्द किया जाता है। जिससे इन्द्रियां कोई व्यापार न करे। हम कुछ भीतर जाने का अभ्यास करें। अपनी इन्द्रियों पर अनुशासन रखने का प्रयास करें। यदि इन्द्रियों का प्रयोग करना हो तो सम्यक् रूप में करें।

शास्त्रकार ने विनिवर्तना के तीन लाभ बताए हैं। पहला लाभ बताया कि पापकर्मों का बन्ध नहीं होगा। इन्द्रियों और मन के असम्यक् प्रयोग से पापकर्म का बन्ध हो सकता था। किन्तु उसका संयम करने से अथवा असम्यक् प्रयोग न करने से पापकर्म का बंध नहीं हुआ। दूसरा लाभ बताया कि विनिवर्तना से निर्जरा होगी। इन्द्रियों और मन का संयम करने से संवर की साधना निष्पन्न होती है और जहां संवर होता है, वहां निर्जरा अवश्यंभावी होती है। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाएगी। तीसरा लाभ बताया कि मोक्ष की प्राप्ति होगी। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इन चार गति वाला संसार रूप जंगल है। उसमें हमारी आत्मा भ्रमण कर रही है। साधना के द्वारा उस संसार कांतार का अतिक्रमण करने से मुक्तिश्री का वरण किया जा सकेगा।

मात्र साधु-साध्वियों के लिए ही नहीं, श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी यह वांछनीय है कि इन्द्रियों और मन का संयम करने का अभ्यास करे। जहां-जहां असंयम होता है, वहां-वहां पापकर्म का बंध होता है और व्यावहारिक कठिनाइयां भी आती हैं। मैं सन् २००० में परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञ की अनुज्ञा से श्रीगंगानगर अचंल की यात्रा करने गया। यात्रा के दौरान एक दिन एक सन्त एक युवक को लेकर आए और मुझे कहा—आप इस युवक से बात करें। मैंने उससे बात की। उसने अपने मन की बात बड़ी सरलता के साथ मुझे बता दी। युवक ने कहा—महाराज! एक लड़की के प्रति मेरा आकर्षण हो गया है और मेरे परिवार की स्थिति यह है कि मैं उसके साथ शादी कर नहीं सकता, यह निश्चित बात है। इसलिए मेरा मन बड़ा बेचैन रहता है। मैंने उसे समझाते हुए कहा—भले आदमी! तुम कहां फंस गए? जब तुम्हें यह पता है कि

तुम्हारी शादी उसके साथ हो नहीं सकती। फिर तुम क्यों उसके प्रति रागभाव रखते हो? थोड़ा रेचन करो, साधना का प्रयोग करो। जब उसके प्रति होने वाले रागभाव का रेचन होगा, तभी तुम्हें शांति मिलेगी, यह विनिवर्तना है। जहां कहीं रागभाव हो गया, उसे हटाने का प्रयास करना विनिवर्तना या प्रतिसंहरण की साधना का प्रयोग है।

हमारे भीतर ऐसे संस्कार हैं कि कहीं हमारा रागभाव हो सकता है तो कहीं द्वेषभाव भी हो सकता है। किन्तु साधक ऐसा अभ्यास करे, कोई प्रयोग करे, अपने मन को समझाए कि हमारे मन में राग-द्वेष के भाव कहीं न रहें। हम ऐसी साधना करें कि अपने मन पर संयम कर सकें। मन पर संयम रखते हुए, अध्यात्म की साधना में लीन रहते हुए अपनी आत्मा को तप और संयम से भावित करते रहें। जिससे मन में विरति का भाव पुष्ट हो सकता है और विषयों से अनाकर्षण चेतना का विकास भी हो सकता है।

सन् २००३ में आचार्यप्रवर की अनुज्ञा से मैं खानदेश के कुछ क्षेत्रों की यात्रार्थ गया। उनमें पीपलनेर, चालीसगांव, मनमाड़, मालेगांव आदि क्षेत्र थे। मैं पीपलनेर गया। उसके पास ही साधकों का एक आश्रम था। उनकी प्रबल भावना थी कि मैं आश्रम में आऊं। उनकी भावना का सम्मान करते हुए मैं कुछ चक्कर लेकर भी वहां गया और एक रात्रि का विश्राम मैंने वहां किया। मुझे जानकारी दी गई कि इस आश्रम में साधक-साधिकाएं यानी बाल संत और बालिका संत रहते हैं, साधना करते हैं। मैंने उनसे कुछ संपर्क किया। कुछ बाल संत मेरे पास आकर बैठ गए। उनमें कोई-कोई बाल संत तो संभवतः पांच-छह वर्ष का ही रहा होगा। मुझे बताया गया कि ये साधक ध्यान की साधना करते हैं। इनके जो गुरु हैं, वे एक वर्ष में एक बार इस केन्द्र में आते हैं। इनको साधना का दिशा-निर्देश देते हैं। फिर ये साधना करते रहते हैं। इनके अन्य कोई कार्य नहीं होता। जितना समय मिलता है, बस ध्यान करते रहते हैं। रात्रि में जब जाग जाते हैं, ध्यान करने बैठ जाते हैं। मैं आश्रम का अवलोकन करने गया। एक कक्ष में बाल साधक ध्यान में बैठे थे और दूसरे कक्ष में बालिका-साधिकाएं ध्यान कर रही थीं। मुझे लगा कि इनमें साधना का अच्छा अभ्यास है।

ध्यान की साधना से व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो सकता है, भावों का

रूपान्तरण हो सकता है और चेतना निर्मल बन सकती है। ध्यान की साधना भी विनिवर्तना का एक प्रयोग है। इन्द्रियों और मन को विषयों से हटाने का अभ्यास और साधना, साधक को उच्च गति की ओर ले जाता है और मोक्ष की ओर उसका प्रयाण करा देता है।

२

सम्भोज-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया——**संभोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! सम्भोज-प्रत्याख्यान (मंडली-भोजन) का त्याग करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया——**संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आययट्ठियाजोगा भवंति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।** सम्भोज-प्रत्यख्यान से वह परावलम्बन को छोड़ता है। उस परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं। वह भिक्षा में स्वयं को जो कुछ मिलता है उसी में संतुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी ताक नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता। दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ, उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ वह दूसरी सुखशय्या को प्राप्त कर विहार करता है।

साधु संस्था में भोजन की मण्डली होती है। जो बहिर्विहार करते हैं, उनके सिंघाड़े होते हैं। साध्वियों के एक सिंघाड़े में कम से कम तीन साध्वियां होती हैं, ज्यादा में चार-पांच-छह आदि हो सकती हैं। साधुओं के सिंघाड़े में कम से कम दो साधु होते हैं, ज्यादा में तीन-चार आदि हो सकते हैं।

सामान्यतया वे सब साथ में भोजन करते हैं। गृहस्थों में भी अनेक लोग साथ में खाना खाते हैं। अनेक साथी मिलकर भोजन करते हैं।

साधना के विशेष प्रयोग में किसी के साथ नहीं खाना, यह भी एक उपक्रम है। अनेक व्यक्ति साथ में आहार करते हैं तो आहार के समय बातें भी हो सकती है। भोजन के समय कलह होने की भी संभावना बनती है। आहार के समय हंसी-मजाक भी हो सकती है और कभी-कभी वायुकाय की अयतना भी हो सकती है। साथ में भोजन करने से आनंद भी मिलता है और किसी को खिलाकर खाने का अपना आनन्द होता है। परमपूज्य आचार्यश्री प्रातराश करते तो यदा-कदा वे दूसरों को भी अपने हाथ से देते। दूसरों को देने से उनको एक संतोष या आनन्द का अनुभव होता था। एक आदमी तो स्वयं ही खाता है, प्राप्त सामग्री को स्वयं ही भोगता है और एक आदमी दूसरों को भी देता है। हमारे यहां साधु संस्था में एक परम्परा रही है कि साधु जो भोजन लाए, वह दूसरों को मनुहार करके दे। मैंने देखा संत और साध्वियां गोचरी लेकर आते हैं। उसमें यदि अमुक वस्तु आचार्य के स्वास्थ्य के अनुकूल होती है तो वे अर्ज करते हैं—गुरुदेव! आप कृपा कर कुछ इसमें से लें। यदि गुरु थोड़ा-सा भी ले लेते हैं तो साधु/साध्वी मानो धन्य हो जाते हैं कि आज गुरुदेव ने हमारे पात्र में से थोड़ा-सा भी ले लिया। गुरु को ही नहीं और भी साधु हैं उनको भी, कोई विशेष द्रव्य या उपयोगी द्रव्य आए तो निवेदन करना चाहिए कि महाराज! आप कृपा करें, हमारे पात्र में से कुछ लें। इस प्रकार दूसरों को खिलाने में जो आनन्द आता है वह अपने आपमें विशिष्ट होता है।

साधु संस्था में मण्डली भोजन की सामान्य परम्परा है। विशेष साधना के प्रयोग में साधक संभोग-प्रत्याख्यान यानी मण्डली भोजन का प्रत्याख्यान कर देते हैं। दूसरे कुछ लाकर मुझे दें, यह अपेक्षा नहीं रखते। वे स्वयं गोचरी जाते हैं और जो कुछ लेकर आते हैं, वे स्वयं ही खा लेते हैं। दूसरों से निरपेक्ष हो जाते हैं। न कोई दूसरों की वस्तुओं पर ध्यान देते हैं कि उसने क्या प्राप्त किया अथवा वह चीज मुझे मिले, ऐसी कोई इच्छा नहीं करते। जो खुद को मिल गया, उसी में संतोष कर लेते हैं। साधु को भोजन में संतोष धारण करना चाहिए किन्तु कहीं-कहीं असंतोष भी होना चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया—स्वपत्नी, भोजन और धन—तीन चीजों में आदमी को संतोष करना

चाहिए। उचित स्थान पर संतोष करना भी ठीक है और उचित जगह पर संतोष नहीं करना भी ठीक है।

उत्तराध्ययनकार ने साधु के लिए जो कहा कि मण्डली भोजन का परित्याग और अकेला अपना भोजन लाना, अकेला अपना खाना, दूसरों के पास क्या है, उस ओर ध्यान नहीं देना, खुद को जो मिला उसी में संतुष्ट रह जाना, यह एक संतोष की साधना का प्रयोग है और इन्द्रिय संयम का अभ्यास है। जहां इन्द्रिय संयम में कमी होती है वहां फिर आदमी कुछ सुविधावादी बन जाता है। दसवेआलियं में कहा गया कि जो साधु सुखस्वादी, साता के प्रति आकुल रहने वाला, खूब आराम से नींद लेने वाला, बार-बार हाथ, मुंह और पैरों को धोने वाला, कपड़ों को धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ हो जाती है। उसकी गति नीची हो सकती है। इसलिए साधु को कुछ कठोर जीवन जीने का अभ्यासी, परिश्रम का अभ्यासी और इन्द्रिय-संयम अभ्यासी होना चाहिए। केवल साधु के लिए ही नहीं एक अच्छे आदमी को भी कुछ करना है तो उसको भी इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करना चाहिए। साधु संस्था में कठोर जीवन जीने का अभ्यास है तो परीषहों को जीतने में आसानी होती है।

मैं जब गुरुदेव तुलसी के पास था तब मुझे ग्रुपलीडर बना दिया गया था। एक दिन संतों ने गुरुदेव से निवेदन किया—गुरुदेव! मुनि मुदितकुमारजी को आप आज्ञा प्रदान करवाएं कि वे गोचरी न जाएं, गोचरी हम लोग कर लेंगे। गुरुदेव ने कहा—मुदित को तो गोचरी करनी चाहिए। मुदित गोचरी करेगा, श्रम करेगा, पसीना आयेगा, उसका स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। एक बार गुरुदेव तुलसी ने मुझे शिक्षा दी कि तुम ध्यान रखना, तुम श्रम करते रहना, स्वावलम्बी रहना।

साधु मण्डली में भोजन करे, वहां भी संयम रहे। भोजन के समय जहां तक संभव हो, मौन का अभ्यास रहे, अनावश्यक बातें न करे। भोजन के समय कलह को मौका न मिले और भोजन बड़ी सावधानी से और अच्छी तरह चबा-चबाकर किया जाए। भोजन के समय चिन्ता, कलह, तू-तू मैं-मैं न हो। भोजन के समय तो आदमी को बड़ी शान्ति में रहना चाहिए, प्रसन्नता में रहना चाहिए।

प्रश्न हुआ, भोजन करने का उद्देश्य क्या है? जैन वाङ्मय में कहा गया—पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा करने के लिए इस देह को धारण करे, इस देह

को बनाये रखे। इस शरीर से मुझे काम करना है, साधना करनी है। क्योंकि मोक्ष की साधना का बड़ा साधन शरीर है। इसलिए मैं इसको पोषण दूं ताकि यह ठीक काम करता रहे।

उत्तराध्ययनकार ने कहा कि जो मण्डली भोजन का परित्याग करके भोजन करता है, वह अनालम्बन, निरालम्बन हो जाता है और उसे अपने आपमें रहने का मौका मिलता है, आत्मनिर्भरता बढ़ती है। इसलिए साथ में आहार नहीं करना, यह एक साधना का प्रयोग है। अकेला लाना और अकेला खाना, दूसरों को क्या मिला, उसकी आकांक्षा नहीं रखना यानी स्वलाभ में संतोष और पर लाभ में अनाशंसा रखना। यह एकाकी भोजन का प्रयोग आत्म संतोष की दृष्टि से और संयम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपक्रम प्रतीत हो रहा है।

३

उपधि-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**उवहिपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ।** उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान में होनेवाली क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

हमारे जीवन की जो अनिवार्य अपेक्षाएं हैं, उनको तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी की अनिवार्य अपेक्षा है—हवा, पानी और भोजन। दूसरी श्रेणी की अनिवार्य अपेक्षा है—वस्त्र और मकान। तीसरी श्रेणी की अनिवार्य अपेक्षा है—शिक्षा और चिकित्सा। ये हमारे जीवन की अनिवार्य अपेक्षाएं हैं। अपेक्षा की पूर्ति करना तो एक बात है किन्तु बाद में उसके साथ अति आकांक्षा न हो, यह ध्यातव्य है। उपाध्याय विनयविजयजी ने शान्तसुधारस भावना में सुन्दर चित्रण किया है—

प्रथममशनपानप्राप्तिवांछाविहस्ता-
स्तदनु वसनवेश्माऽलङ्कृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्याऽवाप्तिमिष्टेन्द्रियाऽर्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाऽश्नुवीरन्।।

उपाध्यायजी ने कहा कि आदमी स्वस्थता को कैसे प्राप्त करे? क्योंकि वह तो चिन्ता मग्न रहता है। आदमी को सबसे पहली चिन्ता होती है अशन-पान प्राप्ति की। जो सम्पन्न घर के लोग हैं उनकी बात हम छोड़ दें, बाकी कितने लोग होंगे जिनको भोजन की और पानी की भी चिन्ता रहती है। पूरा भोजन भी उन्हें व्यवस्थित रूप में रोज नहीं मिलता। लड़का उदास बैठा था।

किसी अधिकारी ने पूछा—क्या बात है बेटा! उदास कैसे बैठे हो?

लड़का—आज मेरी बारी नहीं है इसलिए उदास हूं।

अधिकारी—बारी नहीं है क्या मतलब हुआ?

लड़का—हम दो भाई हैं। घर में भोजन पर्याप्त नहीं मिलता है इसलिए बारी बांध दी गई है। एक दिन तो नाश्ता मेरे बड़े भाई को मिलता है एक दिन नाश्ता मुझे मिलता है। आज बारी बड़े भाई की है मेरी नहीं है। मैं भूखा बैठा हूं इसलिए उदास हूं। आदमी स्वेच्छा से एकान्तर तप करे, वह तो आनन्द की बात है किंतु विवशता में भोजन न मिले तो कैसी स्थिति हो जाती है। उसके बाद कपड़े की चिन्ता रहती है कि मुझे कपड़ा चाहिए। कपड़ा भी मिलने लग गया, फिर मकान की चिन्ता होती है। मकान भी मिल गया, फिर मन में आता है अब मुझे आभूषण कब मिलेंगे? वे भी मिल गए, फिर शादी की चिन्ता सताती है। शादी हो गई, अब संतान कब होगी? इनके साथ मनोज्ञ पदार्थ, अच्छे-अच्छे पदार्थ आदमी को चाहिए। उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा कि कितनी प्रकार की चिन्ता एक गृहस्थ के मन में होती है। इतनी चिन्ताओं में रहने वाला व्यक्ति स्वस्थता, सुख और शांति का अनुभव कैसे कर सकता है?

शास्त्रकार ने उपधि के बारे में बताया कि ये कपड़े आदि उपकरण हैं। जो साधु इनका त्याग कर देता है वह परम समाधि में रहता है। क्योंकि कपड़े पहनने हैं तो पहले कपड़ा खोजना पड़ेगा, फिर लाना पड़ेगा। फिर उसकी सिलाई करनी होगी। फिर कभी-कभी धोना पड़ेगा। जो साधु कपड़ा नहीं रखता है उसे न कपड़ा खोजने की अपेक्षा, न उसे सिलाई की अपेक्षा, न कोई धोने की अपेक्षा। वह कितने व्यवधानों से बच जाता है। यह जो कपड़ा है वह एक प्रकार से साधना में बाधक है। क्योंकि कपड़े की व्यवस्था करने में भी साधु का कितना समय लग जाता है। यहां तक कहा गया कि कपड़ों की पलेवणा करना भी एक प्रकार की स्वाध्याय की बाधा है। स्वाध्याय में जो

समय लगता, उसकी कटौती करके कपड़ों की प्रतिलेखना में समय लगाना पड़ता है। इसलिए जो मुनि उपधि का त्याग कर देता है वह एक दृष्टि से स्वाध्याय-ध्यान का अशत्रु बन जाता है, अपलिमंथु बन जाता है और कपड़ा न मिलने से जो मन में संक्लेश होता है, उस संक्लेश से भी वह मुक्त हो जाता है। कपड़ा रखना भी है तो साधक यह सोचे कि उसके प्रति मोह भाव, ममता का भाव न करूं। कपड़ा शरीर को ढ़कने के लिए है या सर्दी से बचाव करने के लिए है, उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। बढ़िया कपड़ा दिखाने की भावना आ गई, इसका मतलब है कि कपड़े के प्रति हमारे मन में आसक्ति आ गई, मोह आ गया। यह मोहासक्ति साधना के पथ में परिवर्जनीय होती है। साधु के लिए कपड़ा रखने का विधान है, अनुमति है परन्तु आसक्ति न हो इसका साधु ध्यान रखे। बढ़िया कपड़ा पाने के लिए पुराने कपड़े को फाड़कर फेंक दिया और नया ले लिया, यह कपड़े की एक प्रकार की आशातना है, कपड़े का असम्मान है। जो कपड़ा अभी और काम दे सकता है, उसका पूरा उपयोग करना चाहिए।

साधु के लिये एक शब्द आता है अप्पोवही। साधु को अल्पोपधि होना चाहिए। जितने उपकरण कम रहेंगे, उतना ही लाघव रहेगा, हल्कापन रहेगा और अपरिग्रह की साधना को पुष्ट होने का मौका मिलेगा। साधु के लिए तो यहां तक कहा गया है कि वह अपने शरीर के प्रति भी ममत्व न रखे। शरीर का उपयोग करे किन्तु शरीर के प्रति आसक्ति न रखे। शरीर के प्रति अनासक्ति की साधना करने वाले साधक के मन में पदार्थों के प्रति, वस्त्रों के प्रति, भवनों के प्रति मोह होना ही नहीं चाहिए। हम लोग विहार करते हैं। कहीं बड़े भवन भी मिलते हैं और कहीं सामान्य मकान या झोंपड़ी भी मिलती है पर साधु का धर्म है, जो उपयुक्त स्थान मिल जाए, वहां समताभाव से रहे। किसी मकान के साथ ममत्व और प्रतिबद्धता न रखे।

उत्तराध्ययनकार ने कहा कि जो उपधि का प्रत्याख्यान करता है वह संक्लेश मुक्त हो जाता है। वह निष्कांक्ष होता है, कपड़ा लेने की भावना भी उसके मन में नहीं जागती। आज भी दिगम्बर परम्परा के मुनि वस्त्रमुक्त साधना करते हैं। वह उनकी एक अनुपधि या उपधि रहित रहने की साधना है। श्वेताम्बर परम्परा में अपेक्षा व उपयोगिता के कारण कपड़ा रखने का भी विधान प्राप्त होता है। उस विधान के अनुसार श्वेताम्बर मुनि कपड़ा रखते

हैं। साधना की वह भी एक पद्धति है। परन्तु कपड़ा रखे अथवा न भी रखे, आसक्ति या मोह तो होना ही नहीं चाहिए। सवस्त्र हैं तो भी मोह नहीं हो और निर्वस्त्र हैं तो भी किसी प्रकार का मोह या आसक्ति का भाव मन में न आए, यह साधक की साधना होती है। गृहस्थ के लिए भी यह साधना है कि वह घर में रहते हुए, परिवार में रहते हुए भी अनासक्ति का अभ्यास करे। यह अभ्यास अध्यात्म की चेतना को पुष्ट करने वाला हो सकेगा।

४

आहार-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**आहारपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! आहर प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सइ।** आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

आहार करना लाभदायी है तो आहार को छोड़ना भी लाभदायी होता है। अनेक रूपों में आहार को छोड़ा जा सकता है। निर्जरा के बारह भेदों में पहला भेद है—अनशन। यह आहार छोड़ने का ही प्रयोग है। अनशन शब्द से सामान्यतया संथारा समझ लिया जाता है। किन्तु अनशन के दो प्रकार बताये गये हैं—१. इत्वरिक २. यावत्कथित।

इत्वरिक यानी अल्पकालिक। कम से कम एक दिन और ज्यादा से ज्यादा छह मास तक जो आहार का परित्याग किया जाता है वह इत्वरिक अनशन कहलाता है।

यावत्कथित यानी जीवन भर के लिए आहार को छोड़ देना। वह संथारे की बात हो जाती है। आहार का प्रत्याख्यान कुछ समय के लिए भी किया जा

सकता है और जीवन भर के लिए भी किया जा सकता है। दोनों ही प्रकार निर्जरा के साधन हैं।

साधु और श्रावक के तीन-तीन मनोरथ हैं। उनमें एक मनोरथ दोनों का एक समान है। वह है अपश्चिम मरणान्तिक संलेखना। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—**लाभंतरे जीविए बूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी** जब तक शरीर से नया नया लाभ होता है तब तक शरीर को पोषण देना चाहिए। एक साधु युवा अवस्था में है, अभी विहार कर सकता है, जगह-जगह जाकर धर्मोपदेश कर सकता है, धर्म प्रचार कर सकता है तो आध्यात्मिक सेवा करने के लिए शरीर को पोषण भी देना चाहिए। जब यह लगे कि अब शरीर कोई विशेष योगदान नहीं दे रहा है, शरीर शक्तिहीन हो गया है, न यात्रा कर सकता, न विशेष धर्म साधना कर सकता तो फिर शरीर का सार निकालना चाहिए। शरीर छूटे उससे पहले ही शरीर छोड़ने की तैयारी कर लेनी चाहिए। जैन वाङ्मय में संलेखना-संथारे की पूरी विधि बताई गई है। संथारे से पूर्व बारह वर्षों की संलेखना हो सकती है। साधु दीक्षा लेकर बारह वर्षों तक सूत्र का स्वाध्याय करे। बारह वर्षों तक अर्थ का चिन्तन करे। बारह वर्षों तक संघ की सेवा करे, यात्रा करे, शिष्यों का निष्पादन करे। फिर बाद में संलेखना की ओर भी ध्यान दे। कम से कम जब यह लगे कि अब शरीर निष्क्रिय हो रहा है तब तो संलेखना-संथारे की ओर जागरुक हो ही जाना चाहिए।

गुरुदेव तुलसी ने भी संलेखना-संथारे का विचार किया था। उन्होंने १६ जून १९९७ की डायरी में लिखा है—'शरीर की यह स्थिति बन रही है तब क्यों नहीं मुझे अब संलेखना-संथारे की बात सोचकर कल्याण करना चाहिए। एक सप्ताह और देख लूं।' एक सप्ताह बीता और महाप्रयाण हो गया। उनकी डायरी से यह प्रतीत होता है कि उनका संलेखना-संथारे का चिन्तन था। साधु को भी ध्यान देना चाहिए और श्रावक को भी ध्यान देना चाहिए कि मुझे अन्त में संथारा आए। हमारे प्राण आहार करते-करते न छूटे, चिकित्सा कराते-कराते न छूटे। हम आत्मसाधना में लीन हों। न कोई चिकित्सा, न कोई आहार। हम संथारे में आत्मस्थ हों। उस समय प्राण छूटे तो वह एक विशिष्ट मरण हो जाता है। मुझे जेठाभाई झवेरी की स्मृति हो रही है। वे मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी स्वामी के संसारपक्षीय पिताजी थे। वे वैज्ञानिक और अच्छे प्रबुद्ध श्रावक थे। उन्होंने योजना के साथ लम्बे समय तक संलेखना की, फिर संथारा कर लिया।

उत्तराध्ययन में जो कहा गया कि आहार का प्रत्याख्यान करने पर आदमी संक्लिष्ट नहीं होता। यह बिल्कुल ठीक है क्योंकि साधु विहार करता है। कभी आहार उपलब्ध हो जाता है और कभी आहार नहीं मिलता है। यदि आहार छोड़ने का अभ्यास नहीं है तो आहार नहीं मिलने पर मन में दुःख हो सकता है। इसलिए अनशन की बात तो दूर सामान्यतया भी कुछ आहार छोड़ने का अभ्यास हो तो आहार न मिलने पर भी आदमी संक्लेश को प्राप्त नहीं होता और वह समता भाव में रह सकता है। जिससे बेला, तेला आदि लम्बी तपस्या नहीं हो सकती, जो उपवास भी नहीं कर सकता, उसके लिए आहार संयम के अनेक प्रयोग हैं—

- ऊणोदरी यानी कम खाने का अभ्यास करना।
- नवकारसी करना।
- प्रहर करना।
- द्रव्यों की सीमा करना।
- एकासन करना।
- आयम्बिल करना।
- भोजन के बाद कुछ समय के लिए तिविहार या चौविहार त्याग करना।
- रात्रि भोजन का त्याग करना।
- जिस पदार्थ के प्रति मन में आकर्षण है उसको छोड़ना।

इस प्रकार अनेक रूपों में आहार का प्रत्याख्यान और आहार का संयम किया जा सकता है। अपेक्षा है एक लक्ष्य निर्धारित कर लिया जाए। साधु का खाना-पीना स्वाद के लिए नहीं होना चाहिए। वह शरीर को पोषण देने के लिए होना चाहिए। शरीर को पोषण भी इसलिए देना चाहिए क्योंकि वह साधना में सहायक बनता है। जितना संभव हो आहार का प्रत्याख्यान भी करना चाहिए और जब अपेक्षा हो तब आहार का ग्रहण भी किया जा सकता है।

आहार प्रत्याख्यान का एक अर्थ यह भी किया गया है कि साधु अनेषणीय आहार का प्रत्याख्यान करे। वह अकल्पनीय आहार न ले। अपेक्षा हो तो कल्पनीय आहार ग्रहण करे। किन्तु सीधा-सा अर्थ है आहार का संयम

करना। आहार जहां एक ओर शरीर के लिए पोषक बनता है तो वहीं दूसरी ओर आहार भोग भी बन जाता है। खूब मनोज्ञ पदार्थों को खाना आहार का भोग होता है। हम आहार का भोग न करें, अपेक्षा हो तो आहार का उपयोग करें। श्रावक भी यह सोचे कि देह के लिए भोजन करना होता है किन्तु मेरी देह स्थायी नहीं है, आत्मा को स्थायी कहा गया है। इस नश्वर शरीर से अमर आत्मा का कल्याण करने का प्रयास करना चाहिए।

साधु और श्रावक को यह चिन्तन करना चाहिए कि वह धन्य दिन कब आएगा जब मैं आहार छोड़कर शरीर की सार संभाल से मुक्त होकर आत्मस्थ बनने की साधना करूंगा। जिस बात का बार-बार चिन्तन किया जाता है वह बात कभी क्रियान्वित भी हो सकती है। हम शुभ चिन्तन के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करें तो आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त हो सकेगा।

५

कषाय-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**कसायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! कषाय प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।** कषाय प्रत्याख्यान से वीतराग भाव उत्पन्न होता है और वीतराग भाव को प्राप्त जीव सुख और दुःख में सम रहने वाला बन जाता है।

आत्मा अपने आपमें अकषाय है, शुद्ध है। परन्तु कर्म साथ में जुड़े हुए हैं। जैन दर्शन के अनुसार आठ कर्म हैं। शुभकर्म भी हैं और अशुभकर्म भी हैं। जहां चार घाती कर्म सर्वथा एकांत अशुभ हैं, पापमय हैं, वहीं चार अघाती कर्म उभयपक्षी हैं। वे पुण्य रूप भी हो सकते हैं और पाप रूप भी हो सकते हैं। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म को राजा कहा गया है। एकमात्र मोहनीय कर्म ही पापकर्म का जिम्मेदार है। अन्य किसी कर्म में पाप कर्म को बांधने की ताकत नहीं होती। जब मोह का साहचर्य होता है, योग होता है, तभी पापकर्म का बंध हो सकता है। मोह का ही एक नाम है—कषाय। जो राग-द्वेषात्मक पाप है, वह कषाय है। एक शब्द में कषाय कहा जा सकता है। दो शब्दों में राग-द्वेष कहा जा सकता है और चार शब्दों में क्रोध, मान, माया, लोभ कहा जा सकता है। कषाय जो भीतर है, उस पर अधिक ध्यान न देकर हमारी प्रवृत्ति में कषाय न आए, यह संकल्प और प्रयास होना चाहिए। साधना की सफलता कषाय-

प्रत्याख्यान पर ही निर्भर है। कषाय छूट जाता है तो साधना अपने आप सिद्ध हो जाती है। हमारी साधना के विभिन्न उपक्रम हैं। उनके तार कषाय विमुक्ति से जुड़े हुए होते हैं। एक साधक कभी ध्यान करता है, कभी स्वाध्याय करता है, कभी सेवा करता है। इन सबके पीछे कारण एक ही है—कषाय मुक्ति। कषाय मुक्ति हो गई तो मोक्ष प्राप्ति होने वाली ही है। साधक का लक्ष्य हो और वैसा प्रयास हो तो कषाय मंदता की ओर चला जाता है।

हमारे धर्मसंघ में पांचवें आचार्य हुए हैं—आचार्य मघवा। उनकी संतता अपने आपमें विशाल थी। इसलिए उनके लिए कहा गया 'वीतरागकल्प आचार्य मघवा'। वे वीतराग तुल्य थे। उनकी क्षमाशीलता की साधना हमारे लिए प्रेरणाप्रद है। जयाचार्य ने व्याख्यान के दौरान सबके बीच युवाचार्य मघवा को कड़ा उपालंभ दिया। युवाचार्यश्री ने बड़ी विनम्रता के साथ उस उपालंभ को शिरोधार्य किया। यदि कषाय मंद हो तो उलाहने आदि को आसानी से सहा जा सकता है, वरना मन में कष्ट भी हो सकता है। एक बार किसी व्यक्ति ने मघवागणी से कहा—अमुक लोग आपको गालियां दे रहे थे।

मघवागणी—मुझे गाली कौन दे सकता है?

व्यक्ति—मैंने अपने कानों से सुना है। आपका नाम लेकर गालियां दी जा रही थीं।

मघवागणी—जब मैं उन गालियों को स्वीकार ही नहीं करता, तब कोई मुझे गाली कैसे दे सकता है? मेरे लिए तो वे गालियां किसी अन्य को दी गई गालियों के समान हैं। मैं उनकी ओर ध्यान ही नहीं देता।

साधक हर किसी बात को ग्रहण न करे, प्रतिक्रिया भी न करे, बात को दिमाग में टिकाकर न रखे, उसे दिमाग से निकाल दे, जैसे—बर्फ के ऊपर रजें गिरती हैं और पुनः नीचे गिर जाती हैं। वैसे ही कोई बात दिमाग में आए, उसे गांठ बांधकर न रखे, तनाव न करे, अनावश्यक संवेदना न करे, उसे बाहर निकाल दे।

कषाय की मंदता के लिए अपेक्षित है—सरलता। जो बात हो, वह साफ कह दे। ऐसा न हो कि मन में कुछ और हो, बताए कुछ और। बच्चे की भांति सरलता होती है तो कषाय मंद हो जाता है। सरलता के संदर्भ में एक प्रसंग आता है।

एक बार अकाल पड़ा। गांवों के अनेक लोग शहरों में जा रहे थे। एक परिवार में तीन सदस्य थे। माता-पिता और बेटा। तीनों काम धन्धे की खोज में निकले और एक शहर में आए। माता-पिता दोनों को नौकरी मिल गई, किन्तु बेटे को नहीं मिली। वह लगभग आठ या नौ वर्ष का छोटा-सा लड़का धंधे की खोज में अकेला घूम रहा था। वह घूमते-घूमते थक गया और एक आश्रम के बाहर चौकी पर बैठ गया। आश्रम के महन्तजी ने पूछा—बेटा! क्या बात है, यहां कैसे बैठे हो?

लड़का—बाबाजी! गांव का लड़का हूं। काम धंधे की खोज में आया हूं। मुझे कहीं कोई काम मिल जाए तो मेरा गुजारा हो जाए।

महन्तजी—तुम यहां आश्रम में रह जाओ। यहां भोजन कर लिया करो। कार्य की कोई खास बात नहीं है।

लड़का—बाबाजी! मैं मुफ्त का खाना नहीं खाऊंगा। पहले मुझे कोई कार्य करने के लिए दीजिए। मैं कार्य करके ही भोजन करूंगा।

महन्तजी—तुम प्रातःकाल आश्रम की गायों को ले जाया करो। उन्हें चरा दिया करो और सायंकाल वापिस ले आया करो। तुम अपने साथ आटा ले जाना। वहां रोटी बना लेना, गायों का दूध दुह लेना और दूध-रोटी खा लेना। सायं यहां आकर खाना खा लेना।

दूसरे दिन प्रातःकाल गायों को लेकर वह जंगल की ओर रवाना हो रहा था।

महन्तजी—बेटा! एक बात का ध्यान रखना, खाना खाने से पहले ठाकुरजी को भोग अवश्य लगा देना।

लड़का जंगल में पहुंच गया। करीब ग्यारह बजे का समय हुआ। लड़के को भूख लग गई। उसने रोटी बनाई, दूध निकाला और गरम किया। वह भोजन करने बैठा तब आवाज दी—ठाकुरजी आ जाओ, खाना खा लो। लड़के ने सोचा, यहां कोई ठाकुरजी नाम का कोई व्यक्ति रहता होगा। इतने में ही उसने देखा कि कोई दाढ़ी वाला आदमी सामने खड़ा है।

लड़का—आप ही ठाकुरजी हैं?

ठाकुरजी—हां, मैं ही हूं।

लड़के ने आधी रोटी और थोड़ा दूध उसे दे दिया। दोनों खाना खा रहे थे। लड़का सहजभाव से उसके साथ बातें कर रहा था।

ठाकुरजी—आज तो मैं अकेला आया हूं। कल मेरी पत्नी भी साथ आएगी। इसलिए खाना कुछ ज्यादा बनाना।

लड़के ने सायंकाल आश्रम में जाकर सारी बात महन्तजी को बता दी।

महन्तजी ने सोचा, लड़का छोटा-सा है, किन्तु बदमाश लगता है। कौन से ठाकुरजी ने खाना खाया? कौन पत्नी? तुम झूठ बोलते हो?

लड़का—बाबाजी! मैंने आज तक कभी झूठ नहीं बोला। मुझे ठाकुरजी ने जैसा कहा, वैसा मैंने आपको बता दिया। आप ज्यादा आटा देंगे तो मैं उन दोनों को रोटी खिला दूंगा वरना एक को ही खिलाऊंगा। दूसरे दिन उसे कुछ ज्यादा आटा दे दिया। लड़का जंगल में पहुंच गया। महन्तजी भी किसी अन्य रास्ते से जंगल में पहुंच गए और झाड़ियों के पीछे छुप गए। लड़के ने करीब ग्यारह बजे रोटियां बनाईं, दूध दुहा, गरम किया और आवाज लगाई—ठाकुरजी! आ जाओ, खाना खा लो। जैसे ही आवाज दी, एक पुरुष और एक महिला आ गई। तीनों भोजन करने बैठ गए। आपस में बातें करने लगे। महन्तजी ने देखा—साक्षात् भगवान पधारे हैं और राधाजी भी साथ आई हैं। वे झाड़ियों से निकलकर भगवान के चरणों का स्पर्श करने के लिए जैसे ही भगवान के निकट पहुंचे, भगवान तो आकाश में उड़ गए और बोले—महन्तजी! हमारे चरणों का स्पर्श इतना सुलभ नहीं है।

महन्तजी—इस छोटे से बालक के साथ तो आप इतनी बातें कर रहे थे और मुझे चरण स्पर्श भी नहीं करने देंगे क्या? कहा जाता है कि आकाशवाणी हुई—महन्त! जब तक इस बालक की तरह दिल सरल नहीं बनेगा, तब तक मेरे चरणों का स्पर्श तुम नहीं कर सकते। मैं इस बालक की सरलता से मुग्ध होकर ही इसके पास आया था।

जहां सरलता का विकास होता है वहां माया कषाय का नाश हो सकता है। जहां उपशम का विकास होता है, वहां क्रोध कषाय का नाश हो सकता है। जहां मृदुता का विकास होता है, वहां मान कषाय का नाश हो सकता है। जहां संतोष का विकास होता है, वहां लोभ कषाय का नाश हो सकता है। साधक का बाह्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण न रहे। ऐसा न हो कि मुझे बढ़िया-से-

बढ़िया कपड़ा चाहिए। बढ़िया-से-बढ़िया खाद्य पदार्थ चाहिए आदि-आदि। ऐसा कोई आकर्षण मन में न रहे। पदार्थ की उपयोगिता होनी चाहिए। वह हमारी समस्या को समाधान दे सके, अपेक्षा की पूर्ति कर सके। पदार्थों के प्रति आकर्षण न हो, मात्र उनके उपयोग का लक्ष्य हो तो हमारा लोभ कषाय मंदता की ओर जा सकता है। हमारा कषाय विनष्ट हो जाए तो सुख-दुःख में समभाव रह सकेगा।

लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण, मान हो या अपमान, कुछ भी हो, हम सब स्थितियों में सम रह सकें, इस स्थिति का निर्माण करने के लिए कषाय का प्रत्याख्यान अपेक्षित है। कषाय को छोड़ने का अभ्यास साधक के लिए कल्याणकारी होगा।

६

योग-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**जोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! योग प्रत्याख्यान से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ।** योग प्रत्यख्यान से अयोगत्व निष्पन्न हो जाता है और जो अयोगी होता है, वह नए कर्म का बंध नहीं करता और पूर्व बंधे हुए कर्मों का निर्जरण कर डालता है।

हमारे जीवन के साथ योग जुड़ा हुआ है। योग शब्द के अनेक अर्थ हैं—अष्टांग योग, स्वाध्याय योग, ध्यान योग, गमन योग आदि। संस्कृत भाषा की दृष्टि से विचार किया जाए तो युजृंनर धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—जोड़। इसका समाधि अर्थ भी किया जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योग को मोक्ष का उपाय बताया है। प्राकृत वाङ्मय में कहा गया—**मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।** मोक्ष से जोड़ने वाला सारा धर्म-व्यापार अथवा धार्मिक प्रवृत्ति योग है। यह योग शब्द की आध्यात्मिक व्याख्या है। एक और परिभाषा, जो प्रस्तुत प्रसंग में प्रासंगिक है, वह है—**कायवाङ्मनो व्यापारो योगः** शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति योग है। सर्वथा योग निरोध तो मोक्ष प्राप्ति से ठीक पहले चौदहवें गुणस्थान में होता है, जिसे अयोगी केवली गुणस्थान कहा गया है। वहां न शरीर की प्रवृत्ति होती है, न वाणी की प्रवृत्ति होती है और न मानसिक प्रवृत्ति यानी चिन्तन, मनन,

कल्पना आदि होती है। वहां व्यक्ति पूर्णतः अयोगी बन जाता है। अयोगी होने से वह किसी भी प्रकार के कर्मों का बंध नहीं करता। 'जैन सिद्धांत दीपिका' में पूज्य गुरुदेव तुलसी ने कहा है—**अबन्धोऽयोगी** अयोगी के कर्मबन्ध नहीं होता। सर्वथा संवर की भूमिका अगर सांसारिक अवस्था में कहीं प्राप्त होती है तो वह एकमात्र अयोगी अवस्था है, जहां सम्यक्त्व संवर, व्रत संवर, अप्रमाद संवर, अकषाय संवर और अयोग संवर—इन पांचों की एक साथ निष्पत्ति होती है। वर्तमान में यहां उस अवस्था को प्राप्त करना नामुमकिन लग रहा है। परन्तु उस दिशा में प्रयास तो होना ही चाहिए। वर्तमान जन्म में यहां से मुक्ति नहीं मिलेगी, यह मानकर आदमी प्रयास ही न करे, यह तो मेरे ख्याल से समझदारी नहीं होगी। साधना करने से मुक्ति निकट हो सकती है, जन्मों की संख्या अल्प हो सकती है।

अनेक लोग ध्यान करते हैं। यह ध्यान की साधना अयोग की ओर प्रस्थान है। इसमें शरीर को स्थिर किया जाता है। वाणी और मन का भी संयम किया जाता है। संयम का अभाव आदमी को पाप बंध की ओर ले जाता है। इसलिए गुरुदेव तुलसी ने कहा—

रोको काया री चंचलता नै थे श्रमण सती।
होसी जोगां पर काबू पायां ही नेड़ी मुगती।।

शरीर की चंचलता को रोकने के लिए काय-गुप्ति का अभ्यास किया जाता है। जैन साधना पद्धति में गुप्ति शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—अशुभ प्रवृत्ति से अपने आपको हटा लेना यानी शरीर से अशुभ प्रवृत्ति न करना, वाणी से अशुभ भाषा का प्रयोग न करना और मन से अशुभ चिन्तन आदि न करना क्रमशः कायगुप्ति, वाक्गुप्ति और मनोगुप्ति है। इससे भी आगे जितना संभव हो सके आदमी न तो शरीर से प्रवृत्ति करे, न वाणी से बोले और न ही मन से चिन्तन करे, यह विकास की अग्रिम भूमिका है।

आदमी वाणी का प्रयोग करता है। वाणी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आदमी का लक्ष्य यह रहे कि वाणी का संयम करना है। एक-दो घण्टे का मौन करना भी अच्छा है। मौन करने से कुछ विश्राम मिलता है और असत्य भाषण से लगने वाला पाप भी नहीं लगता। मौन से कई लाभ होते हैं, किन्तु व्यवहार के

धरातल पर जीने वालों के लिए पूर्णतया मौन कठिन हो सकता है, इसलिए एक उपाय बताया गया कि अनावश्यक मत बोलो। वाणी के संयम से अयोग की दिशा में आगे बढ़ने का मौका मिल सकेगा।

आदमी कायगुप्ति का अभ्यास करे। जितना संभव हो, पांच मिनट, दस मिनट या उससे अधिक समय तक शरीर को स्थिर रखे। किसी प्रकार की चंचलता न करे। आवश्यकता होने पर तो शारीरिक क्रियाएं करनी ही पड़ेगी, किन्तु अनावश्यक हलन-चलन न करे। कई बार आदमी बिना मतलब ही हाथ, पैर आदि को हिलाता रहता है। जब अनुष्ठान, प्रार्थना, जप आदि करे, तब यथासंभव शरीर की प्रवृत्ति न हो, स्थिरता बनी रहे। कायिक स्थिरता के अभ्यास से अयोग की ओर प्रस्थान हो सकेगा।

आदमी का मन भी बहुत चंचल है। मन की चंचलता साधना में अवरोध पैदा करती है। जब व्यक्ति ध्यान, जप आदि करता है तो मानसिक चपलता के कारण सम्यक्तया नहीं कर सकता। व्याख्यान आदि के समय तो फिर भी मन एकाग्र हो सकता है, क्योंकि उस समय मन सुनने में लगा रहता है इसलिए विचारों को आने का मौका कम मिलता है। परन्तु फिर भी कुछ विचार आ सकते हैं। जो व्यक्ति खाली बैठा रहता है, न अध्ययन करता है और न स्वाध्याय आदि कुछ करता है। उसके मन में ज्यादा विचार आ सकते हैं। इसलिए जप, ध्यान, तत्त्वचर्चा, स्वाध्याय, व्याख्यान श्रवण आदि उपक्रम चलते रहने चाहिए। हम अनुभव करते हैं कि कितने विचार हमारे दिमाग में आते रहते हैं। हम चलते हैं, तब भी मन में विचार आ जाते हैं, बोलते समय भी विचार आ सकते हैं, भोजन के समय, रात को लेटते समय और शौच क्रिया के दौरान भी विचार आ जाते हैं। विचार हमें चलाते रहते हैं और हम चलते रहते हैं। मनोगुप्ति का अभ्यास करने वाला व्यक्ति इन कल्पनाओं, चिंताओं और स्मृतियों पर संयम कर लेता है।

हालांकि चिन्तन करना अच्छा भी है। मेरा आशय यह नहीं है कि बिलकुल सोचना ही बंद कर दें, बोलना ही बंद कर दें और शरीर से क्रियाएं करनी बंद कर दें। किन्तु संयम रखें, विवेक रखें। विवेक और संयम है तो जीवन की गाड़ी ठीक चल सकेगी। मन, वाणी और शरीर के संयम से हम अपनी आत्मा को पाप कर्मों से काफी बचा सकते हैं और साधना की दिशा में

आगे बढ़ सकते हैं व व्यवहार में भी नैपुण्य हासिल कर सकते हैं।

आर्षवाणी में ठीक कहा गया कि योग-प्रत्याख्यान करने से अयोगता प्राप्त हो जाती है। जब पूर्णतया अयोगता प्राप्त हो जाती है, तब कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

७

शरीर-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया किया—**सरीरपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** शरीर-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणतणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ।** शरीर-प्रत्याख्यान से वह सिद्धों के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है। सिद्धों के अतिशय गुणों को प्राप्त हुआ जीव लोक के अग्रभाग में पहुंचकर परम सुखी बन जाता है।

जैन वाङ्मय में शरीर के पांच प्रकार बताए गए हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। जीव और शरीर—इन दोनों का योग है। जब मृत्यु होती है तब स्थूल शरीर छूट जाता है और सूक्ष्म शरीर साथ रहता है। मनुष्य और तिर्यंच में औदारिक शरीर होता है। देवों और नारक जीवों में वैक्रिय शरीर होता है। कदाचित् वैक्रिय लब्धि संपन्न मनुष्य में भी वैक्रिय शरीर निष्पन्न हो सकता है। वायुकाय में भी वैक्रिय शरीर हो सकता है। आहारक शरीर एक विशिष्ट शरीर है। यह विशिष्ट लब्धि संपन्न मुनि को ही प्राप्त हो सकता है। कदाचित् किसी आहारक लब्धि संपन्न मुनि के मन में कोई विशेष जिज्ञासा हो जाए तो उसे शांत करने के लिए अविलम्ब अपने शरीर में से एक पुतला निकालता है। वह पुतला तीर्थंकर अथवा केवलज्ञानी के पास पहुंचता है और प्रश्न का जवाब लेकर आ जाता है। तैजस और कार्मण शरीर हर संसारी प्राणी में होते हैं। जब ये दोनों शरीर छूट जाते हैं तो आत्मा मोक्ष में चली जाती है।

पुनर्जन्म कराने वाला एकमात्र कार्मण शरीर है। कार्मण शरीर है तो कषाय, राग-द्वेष के भाव हो सकते हैं। कार्मण शरीर के अभाव में राग-द्वेष के भाव नहीं होते। दसवेआलियं में पुनर्जन्म का कारण बताते हुए कहा गया है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।।

अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्द्धमान माया और लोभ—ये चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

इन कषायों का संबंध कार्मण शरीर से होता है। कार्मण शरीर ही इन कषायों को आश्रय देने वाला है। इसलिए कषाय को पुनर्जन्म का कारण मान लें अथवा कार्मण शरीर को पुनर्जन्म का कारण माने लें, दोनों जुड़ी हुई बातें हैं। इसलिए जब कार्मण शरीर छूट जाता है तो पुनर्जन्म का मूल उन्मूलित हो जाता है। फिर पुनर्जन्म हो ही नहीं सकता। आत्मा पूर्णतया मुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त हो जाती है और लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाती है। सिद्धात्माओं के निवास स्थल को सिद्धशिला कहा जाता है। जब शरीर पूर्णतया छूट जाते हैं तो आत्मा फिर इस धरती पर नहीं रहती। वह ऋजु गति के द्वारा एक समय में ही मोक्ष में चली जाती है। जैनधर्म में समय एक पारिभाषिक शब्द है। समय काल की लघुतम इकाई है। आदमी एक बार निमेष करता है। उस निमेष मात्र में असंख्य समय बीत जाते हैं। इससे कल्पना की जा सकती है कि समय शब्द कितने अल्पतम समय का सूचक है। जब मृत्यु के बाद आत्मा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है तो वह अंतराल गति करती है। वह दो प्रकार की होती है—ऋजु गति और वक्र गति। ऋजु गति से जाने वाली आत्मा एक समय में सीधी अगले स्थान पर चली जाती है और वक्र गति से जाने वाली आत्मा दो अथवा तीन अथवा चार समय में गंतव्य स्थल पर पहुंचती है। मोक्ष में जाने वाली आत्मा एक समय में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेती है।

सिद्धात्माओं में अतिशय गुण होते हैं। ऐसे गुण जो संसारी आत्मा में तो पूर्णतया हो ही नहीं सकते। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तो फिर भी सांसारिक अवस्था में ही केवलज्ञान प्राप्त मुनि को उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु अशरीरी का गुण, अटल अवगाहन का गुण सिद्ध होने के बाद ही निष्पन्न होते हैं। अन्य किसी जीव में नहीं होते। इसलिए इन्हें अतिशय गुण भी कहा जा सकता है।

एक बार आत्मा मुक्तत्व को प्राप्त हो गई तो वह हमेशा के लिए प्राप्त हो गई। फिर वह दुबारा इस संसार में नहीं आती है, उसका कभी अवतार नहीं होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा कि जब धर्म का कुछ ह्रास होता है और पाप का विकास हो जाता है तब मैं अवतार ग्रहण करता हूं। मेरे अवतार ग्रहण करने का उद्देश्य है—सज्जनों और साधुओं की रक्षा करना, पापियों का विनाश करना और धर्म की स्थापना करना।

जैनदर्शन का मंतव्य है कि मुक्त होने के बाद आत्मा संसार में किसी भी उद्देश्य को लेकर नहीं आती है। आत्मा को अमर कहा गया है और शरीर को नश्वर बताया गया है। यह नश्वर शरीर कभी न कभी छूटने वाला है। पहले अथवा पीछे, जल्दी अथवा देरी से नष्ट होने वाला है। इसलिए आदमी यह विचार करे कि जिसको मैंने अभेद के रूप में स्वीकार कर रखा है, जिसको मैंने अपना मान रखा है, वह भी मुझे छोड़ने वाला है। अतः आदमी को संक्लिष्ट विचार वाला नहीं बनना चाहिए, आर्तध्यान नहीं करना चाहिए, दुःखी नहीं होना चाहिए परन्तु यह चिन्तन करना चाहिए कि मैं इस शरीर का उपयोग क्या करूं? इससे लाभ कैसे उठाऊं? इस शरीर से सबसे बड़ा लाभ यह उठाया जा सकता है कि इससे अमर आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

शरीर को नौका कहा गया है। हम शरीर रूपी नौका के द्वारा संसार रूपी सागर से तर सकते हैं और आत्मा को संसार से मुक्त कर सकते हैं। परन्तु शरीर ऐसी नौका बने, जिसमें छेद न हो। छेद वाली नौका डुबोने वाली होती है। हालांकि शरीर में नाक, कान, मुंह आदि अनेक छेद हैं, किन्तु इन छेदों से खतरा नहीं है। यहां शरीर से मतलब है जीवन। इस जीवन में कुछ ऐसे छिद्र हो जाते हैं, जैसे—कोई बहुत गुस्सा करता है, कोई बहुत आसक्ति रखता है, कोई बहुत अहंकार करता है, काम-क्रोध आदि से हत-प्रहत रहता है। ये छेद इस नौका को डुबोने वाले होते हैं। इन पापों से हमारी आत्मा डूब जाती है और संसार-सागर में गोते लगाती रहती है। हम शरीर और जीवन को ठीक रखें, साधना करें तो साधनामयी नौका निश्छिद्र नौका होती है। यह नौका संसार-सागर से पार पहुंचाने वाली होती है।

आदमी भोगों के आकर्षण में किस प्रकार फंसा रहता है। इसे समझाने के लिए मधु-बिन्दु का दृष्टांत प्रसिद्ध है। यह एक धार्मिक संदेश देने वाला और वास्तविकता को बताने वाला दृष्टांत है। कोई विद्याधर आकाश-मार्ग से जा

रहा था। उसने देखा कि एक आदमी एक पेड़ की शाखा को पकड़कर कुएं में लटक रहा है। ध्यान से देखने पर ज्ञात हुआ कि उस कुएं में चार अजगर बैठे हैं। विद्याधर ने सोचा कि यह आदमी संकट में है, इसे बचाना चाहिए। मनुष्य में करुणा होती है इसलिए वह दूसरे के कष्ट को देख नहीं सकता। सांसारिक संदर्भ में किसी को बचाना आदि लौकिक करुणा होती है, एक सांसारिक उपकार भी होता है। विद्याधर भी विमान लेकर उस आदमी के पास पहुंचा और कहा—तुम अभी खतरे में हो इसलिए आओ मेरे विमान में बैठ जाओ। तुम जहां कहोगे, वहां पहुंचा दूंगा। उस आदमी ने कहा—महाशय! आप कुछ देर प्रतीक्षा करें। ऊपर से शहद की बूंद आ रही है। एक बूंद मुंह में आ जाए, फिर आऊंगा। एक बूंद आने के बाद फिर कहा—एक बूंद और आ जाए, फिर आऊंगा। इस प्रकार एक बूंद की आसक्ति ने आदमी को पकड़ रखा है। उस पर दो चूहे बैठे हैं। एक सफेद रंग का चूहा है और एक काले रंग का चूहा है। दोनों मिलकर उस शाखा को काट रहे हैं। विद्याधर ने कहा—भाई! ये चूहे शाखा को काट रहे हैं। तुम इस विमान में बैठ जाओ। परन्तु मधु-बिन्दू की आसक्ति इतनी थी कि वह व्यक्ति विमान में नहीं बैठा। कुछ समय बाद विद्याधर तो चला गया। दोनों चूहों ने उस शाखा को काट दिया। वह नीचे गिरा। वहां चार अजगर थे। उनका ग्रास बन गया। यह एक दृष्टांत है। इसके माध्यम से यह प्रेरणा दी जा रही है कि संसार एक प्रकार का कुआं है। इसमें चार अजगर रूप चार गतियां हैं। पेड़ की शाखा रूप आयुष्य है। सफेद और काले चूहे रूपी दिन और रात हैं। जब आयुष्य रूपी शाखा कट जाती है तो जीवन काल समाप्त हो जाता है। विद्याधर रूपी संत हैं। इनका कहना है कि भाइयो! तुम्हारे सामने खतरा है। तुम्हें चार गतियों में जाना पड़ेगा। इसलिए आओ और हमारे इस धर्म रूपी विमान में बैठ जाओ। हम तुम्हें संसार-सागर से पार पहुंचा देंगे। किन्तु लोग कहते हैं कि महाराज! आप कुछ समय ठहरिये। इस मधु रूपी भोग भोगने दीजिए। संत दो-तीन बार कहते हैं। फिर सोचते हैं कि आखिर इनकी यही इच्छा है। उन्हें वहीं छोड़कर संते आगे चले जाते हैं। वे लोग भोगों में लगे रहते हैं। जब आयुष्य की शाखा टूट जाती है तब संसार-सागर में भ्रमण करते रहते हैं और चार गति रूपी अजगर मनुष्य को खाते रहते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो संतों की वाणी को मानते हैं, अच्छे नियमों

को स्वीकार करते हैं, त्याग के पथ पर चलते हैं और समय आने पर संसार रूपी सागर से मुक्त हो जाते हैं। वे सिद्धों के अतिशय गुणों से संपन्न हो जाते हैं और लोक के अग्रभाग में हमेशा के लिए स्थित हो जाते हैं, परम सुखी बन जाते हैं।

८

सहाय-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**सहायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! सहाय प्रत्याख्यान से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ।** सहाय-प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलंबन का अभ्यास करता हुआ अल्प शब्द, अल्प झंझा, अल्प कलह, अल्प कषाय, अल्प तुमंतम, संयम बहुल, संवर बहुल और समाधिस्थ हो जाता है।

सहाय-प्रत्याख्यान साधना का एक विशेष प्रयोग है। इसमें किसी की सहायता नहीं ली जाती। एकाकी विहार में व्यक्ति असहाय बन जाता है यानी कोई सहायक साथ में नहीं होता। यह उच्चकोटि की साधना है। सामुदायिक साधना में सहयोग न लेने का प्रत्याख्यान कुछ अंशों में हो सकता है। आदमी का जीवन सापेक्ष होता है। एक दूसरे के सहयोग से जीवन चलता है। गुरु और शिष्य का संबंध होता है। शिष्य का गुरु से और गुरु का शिष्य से काम चलता है। जब गुरु वृद्धावस्था में हो और शिष्य सेवा न करे तो गुरु के कठिनाई हो सकती है। शिष्यों की सेवा के आधार पर गुरु अपना कार्य करते हैं। अनेक अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ शिष्य विनय का अर्पण करते हैं तब गुरु को आलंबन प्राप्त होता है। यह बड़ी बात है कि शिष्यों के द्वारा गुरु को समाधि

मिलती है। शिष्य यदि चित्त समाधि देने वाले न हों तो यदाकदा गुरु के भी मानसिक व्यथा हो सकती है। प्रस्तुत आगम में कहा गया—**मिउं पि चंडं पकरेंति सीसा।** जो शिष्य उद्दंड होते हैं, अविनीत होते हैं, वे मृदु स्वभाव वाले गुरु को भी चण्ड बना देते हैं। जो शिष्य सुविनीत होता है वह चण्ड स्वभाव वाले गुरु को भी शान्त रख सकता है।

एक आदमी का स्वभाव तेज होता है किन्तु साथ वाले व्यक्ति का स्वभाव शांत होता है तो उस तेजी को भी शान्त होने का मौका मिल सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—**–अतृणे पतितो वह्निः** जहां घास फूस कुछ भी नहीं है वहां यदि अग्नि गिरती है तो वह कब तक जलेगी? उसे बुझना ही पड़ेगा।

एक आदमी आक्रोशशील है पर सामने वाला आदमी शांत है तो उसका आक्रोश कब तक चलेगा। उसके आक्रोश की अग्नि को शांत होना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अगर शांत स्वभाव वाले शिष्य हों तो उग्र स्वभाव वाले गुरु भी शान्त हो जाते हैं। एक ओर गुरु को शिष्यों से सेवा मिलती है तो दूसरी ओर शिष्यों को गुरु से पथदर्शन मिलता है। यह गुरु और शिष्य का परस्परोपग्रह बन जाता है। एक परिवार में पति का काम पत्नी से चलता है और पत्नी का काम पति से चलता है। पति अर्थार्जन के द्वारा अपेक्षाओं की पूर्ति करता है तो पत्नी घर के कार्यों को संभालती है। एक-दूसरे का आलम्बन होता है। माता/पिता-पुत्र का संबंध होता है। दोनों को एक-दूसरे से आलम्बन मिलता है। पुत्र जब छोटा होता है तब माता-पिता उसकी कितनी सेवा करते हैं। उसका कितना ध्यान रखते हैं। किस प्रकार उसको पढ़ाते-लिखाते हैं। उसका लालन-पालन करते हैं। जब माता-पिता वृद्धावस्था में होते हैं तब उनको पुत्र से सहयोग की, सेवा की अपेक्षा रहती है। यदा कदा परिवार में माता-पिता के वियोग के बाद लोग संबल प्राप्त करने आते हैं तब मैं कहा करता हूं कि मां अथवा पिता जो पीछे हैं, उनके प्रति सन्तान के विशेष रूप से तीन कर्त्तव्य हैं—

- संतान का पहला कर्त्तव्य है कि माता-पिता के मन में शांति रह सके, चित्त समाधि रह सके और निश्चिंतता रह सके।

- संतान का दूसरा कर्त्तव्य है कि माता-पिता जो धर्माराधना करना

चाहे, उसमें यथासंभव सहयोग देना।

- संतान का तीसरा सामाजिक कर्त्तव्य है कि माता-पिता की सेवा करना।

इन कर्त्तव्यों का निर्वाह करके संतान अपने मां-बाप के ऋण से कुछ उऋण हो सकती है।

आदमी का जीवन सापेक्ष होता है। सामुदायिक जीवन में निरपेक्ष होकर जीवनयापन करना बहुत कठिन है। इसके बावजूद भी साधक इस बात का ध्यान रखे कि मुझे दूसरों का सहयोग कम से कम लेना है। जो व्यक्ति परवश हो गए हैं, पक्षाघात आदि से ग्रस्त हो गए हैं। जिनका उठना-बैठना आदि भी दूसरों के अधीन हो गया है। ऐसी परिस्थिति में तो दूसरों की सेवा लेनी ही पड़ेगी। किन्तु जो व्यक्ति अपना काम अपने हाथों से कर सकता है तो फिर अनावश्यक परावलंबी क्यों बने। आसानी से किए जा सकने वाले काम के लिए दूसरों के सहयोग की अपेक्षा क्यों रखे। जहां पर सहयोग की अपेक्षा रहती है उसके पीछे अहंकार की भावना हो सकती है, आलस्य की चेतना हो सकती है अथवा कोई अन्य कारण भी हो सकता है। जब व्यक्ति सक्षम है तो फिर अपना काम स्वयं क्यों नहीं कर सकता? स्वावलंबन का अपना आनन्द होता है।

एक लड़का घूमने के लिए गया। रास्ते में उसे प्यास लग गई। कुछ दूर एक कुआं दिखाई दिया। वह कुएं के पास आया और देखा कि कुए में पानी है और पास में बाल्टी और रस्सी भी है। तभी मन में विचार आया कि मैं पानी अपने हाथ से कैसे निकालूं? मैं तो बादशाह का बेटा हूं। कोई दूसरा आएगा तो उससे निकलवाऊंगा। यह सोचकर वह कुएं के पास बैठ गया। कुछ देर बाद दूसरा लड़का आया और पूछा—कुएं में पानी है?

पहला लड़का—हां, पानी बहुत है। तुम पानी निकालो, स्वयं भी पी लो और मुझे भी पिला दो।

दूसरा लड़का—अब तक तुमने पानी क्यों नहीं पिया?

पहला लड़का—मैं तो शाहजादा हूं। मैं स्वयं पानी कैसे निकालूं?

दूसरा लड़का—मैं भी नवाबजादा हूं। मेरे काम भी नौकर करते हैं। मैं

अपने हाथ से पानी कैसे निकालूं? तीसरे व्यक्ति के इन्तजार में दोनों वहीं बैठ गए।

कुछ देर बाद तीसरा लड़का आया और पूछा—भैया! कुएं में पानी है क्या?

दोनों एक साथ बोल पड़े—हां, हां। तुम पानी निकालो और हमें भी पिलाओ।

तीसरा लड़का—तुम दोनों ने पानी क्यों नहीं निकाला?

पहला लड़का—मैं शाहजादा हूं।

दूसरा लड़का—मैं नवाबजादा हूं।

तीसरा लड़का—यह बीमारी तो मुझमें भी है। मैं भी अमीरजादा हूं। मैं पानी कैसे निकालूं? यह कहकर वह भी वहीं बैठ गया।

थोड़ी देर बाद एक लड़का आया। वह बहुत प्यासा था। उसने भी पूछा—कुएं में पानी है? तीनों ने वही बात दोहराई। लड़के ने तीनों के बारे में जानकारी की। फिर बाल्टी कुएं में डाली, पानी निकाला, जी भरकर पानी पिया और शेष बचा हुआ पानी भूमि पर गिरा दिया।

तीनों लड़के एक साथ बोले—भले आदमी! हमें भी पानी पिला देते। तुमने पानी नीचे क्यों गिराया?

चौथा लड़का—आप शाहजादा, नवाबजादा और अमीरजादा हैं तो मैं भी हरामजादा हूं। मैं मात्र अपना काम ही करता हूं। आप जैसे अहंकारी व्यक्तियों का काम मैं नहीं कर सकता।

कार्य करने से आदमी छोटा नहीं होता और न ही कोई काम छोटा होता है। अपेक्षा हो तो सामान्य से सामान्य काम के लिए भी व्यक्ति तत्पर रहे। सामान्यतया तो सभी अपना-अपना काम करते ही हैं और करना भी चाहिए। कभी-कभी मेरे मन में आता है कि मैं तो अभी युवावस्था में हूं। फिर बिना बोझ लेकर क्यों चलूं? अपना बोझ स्वयं लेकर विहार करूं तो कुछ निर्जरा भी ज्यादा होगी और मेरा स्वावलम्बन भी बढ़ेगा। परन्तु अभी तक मेरी यह भावना पूरी नहीं हुई है।

शास्त्रकार ने सुन्दर कहा कि तुम दूसरों से सहयोग कम लो। हमें बचपन

में एक दोहा सिखाया गया था—

कम से कम लो अधिक दो, सेवा धर्म विचार।
रखो सभी के साथ में, प्रतिपल शिष्टाचार।।

आदमी यह ध्यान रखे कि दूसरों से सेवा कम से कम ले और ज्यादा से ज्यादा देने का प्रयास करे। सामुदायिक जीवन में परावलम्बन ज्यादा होता है। वह स्वयं के लिए और कभी-कभी दूसरों के लिए भी कठिनाई उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इसलिए दूसरों से सेवा कम लें, ऐसी वृत्ति का निर्माण हो।

सहाय का प्रत्याख्यान करने से एकत्व की अनुभूति होती है। हमारे संघ में कहा गया है—**गण मैं रहूं निरदाव अकेलो** यानी समुदाय में रहते हुए भी अकेलेपन की अनुभूति करे। यह चिन्तन करे कि मेरी आत्मा अकेली है। किसी से न ज्यादा राग, न द्वेष, बस अपने आपमें मस्त रहे। जब एकत्व की अनुभूति हो जाती है तो एकाग्रता का विकास होता है और उसके साथ न झगड़ा, न कलह, न तू-तू आदि। इन बातों से काफी मुक्ति मिलने की संभावना रहती है। सहाय का त्याग करने वाले साधक में संयम और संवर का विकास होता है। वह समाधि की अनुभूति करता है। इसलिए जितना संभव हो हम परावलम्बन से बचें और स्वावलम्बन का प्रयोग करें तो कुछ अंशों में आर्षवाणी की बात हमारे जीवन में आ सकती है और हमारा जीवन अध्यात्म की दृष्टि से भी और व्यवहार की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण बन सकता है।

१

भक्त-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**भत्तपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! भक्त-प्रत्याख्यान से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ।** भक्त-प्रत्याख्यान से वह अनेक सैकड़ों भवों को निरुद्ध कर देता है।

संसार का यह नियम है कि कर्मबद्ध जीव जन्म-मरण की परम्परा में भ्रमण करता रहता है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म का क्रम चलता रहता है। इस जन्म और मृत्यु को दुःख माना गया है। प्रस्तुत आगम में कहा गया—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो।।

जन्म दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, बीमारी दुःख है। यह संसार ही दुःख बहुल है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं। संसार में भ्रमण करने वाला विभिन्न रूपों में दुःख भोगता है। जब तक जन्म-मरण की परम्परा चालू है, तब तक आदमी को दुःखों का सामना करना पड़ता है। राग और द्वेष को जन्म-मरण का मूल कहा गया है। अध्यात्म की साधना के द्वारा हमारा राग-द्वेष का भाव कमजोर होता है, क्षीण होता है। राग-द्वेष को कमजोर करने का मतलब है जन्म-मरण की परम्परा के मूल को कमजोर बनाना। शास्त्रकार के अनुसार भक्त-प्रत्याख्यान के द्वारा प्राणी अनेक सैकड़ों जन्मों को निरुद्ध कर

देता है। उनसे मुक्त हो जाता है।

जैन परम्परा में मरने की भी कला बताई गई है। जीने की कला तो सीखनी ही चाहिए, किन्तु जीवन के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। इसलिए मृत्यु भी कलापूर्ण तरीके से होनी चाहिए। कलापूर्ण मृत्यु का एक प्रकार है—अनशन। आदमी की मृत्यु मोह के भावों में, आर्त्तध्यान में न हो। समाधि की अवस्था में हो। वह उत्तम कोटि की मृत्यु होती है। आदमी रोते-चिल्लाते मरे, आर्त्तध्यान में मरे, राग-द्वेष के भावों में मरे, वह उत्तम मृत्यु नहीं होती। जो समाधि की अवस्था में, शांति की अवस्था में, अनासक्ति की अवस्था में, तपस्या और साधना की अवस्था में मरण का वरण करता है, वह व्यक्ति धन्य हो जाता है। उसकी मृत्यु भी उत्तम कोटि की बन जाती है। अनशन के तीन प्रकार बताए गए हैं—१. भक्त प्रत्याख्यान २. इंगिनीमरण ३. प्रायोपगमन।

भक्त-प्रत्याख्यान

इसमें व्यक्ति भोजन का परित्याग करता है। इस अनशन की अवस्था में वह स्वयं अपने शरीर की सार-संभाल कर सकता है और दूसरों से सेवा भी ले सकता है। यह अनशन वर्तमान में किया जाता है। अनेक साधु-साध्वियां और गृहस्थ इस अनशन की आराधना करते हैं।

इंगिनीमरण

यह अनशन का दूसरा प्रकार है। इस अनशन में भक्त-प्रत्याख्यान तो होता ही है यानी आहार का परित्याग तो होता ही है, परन्तु साथ में दूसरों से सेवा भी नहीं ली जाती। इसमें साधक स्वयं अपना कार्य कर सकता है, अपने शरीर की सार-संभाल रख सकता है, स्वयं अपनी सेवा कर सकता है, किन्तु दूसरों से सेवा नहीं ले सकता। यह विशेष साधना होती है।

प्रायोपगमन

यह अनशन का तीसरा प्रकार है। यह और अधिक विशिष्ट होता है। इस अनशन से पूर्व शरीर को इस प्रकार साध लिया जाता है कि अनशन-काल में मल-मूत्र की भी अपेक्षा न रहे। इस अनशन में स्थित साधक वृक्ष से टूटी हुई डाली की तरह बिलकुल अडोल रहता है। इसमें व्यक्ति न तो स्वयं अपनी सेवा करता है और न ही दूसरों से किसी भी प्रकार की सेवा लेता है। मानो अपने शरीर को विशिष्ट बनाकर साधनालीन बन जाता है। यह प्रायोपगमन

अनशन होता है।

जब मरना ही है तो आदमी अच्छे तरीके से मृत्यु का वरण करे। आदमी के मन में आहार करने की भावना होती है और बहुधा आहार के प्रति आसक्ति भी रहती है। एक दिन में आदमी सामान्यतया एक बार नाश्ता और दो बार भोजन करता है। उसके सिवाय कितनी बार दूध, चाय, कॉफी, सूप, रस आदि पी लेता है। पानी तो कई बार पीता है। इस प्रकार चौबीस घण्टों में आदमी अनेक बार खाता-पीता है। यह आहार शरीर को दिया जाता है। शरीर को टिकाने के लिए आहार आवश्यक भी होता है, किन्तु आहार के प्रति आसक्ति न हो। यह आसक्ति का भाव रागभाव है और जन्म-मरण की परम्परा का मूल है। कइयों का अनशन बहुत लम्बा चलता है तो कइयों का बहुत कम समय में ही संपन्न हो जाता है।

भक्त-प्रत्याख्यान यानी भोजन का परित्याग करना कोई सामान्य बात नहीं है। भक्त-प्रत्याख्यान करने का मतलब है मौत के सामने जाना। मौत के सामने कौन जा सकता है? कोई व्यक्ति आवेश की स्थिति में आत्महत्या कर सकता है या फिर कोई इतनी निष्ठा हो, देशभक्ति हो तो आदमी देश की रक्षा के लिए मौत का वरण कर लेता है। कितने-कितने सैनिक देश की सुरक्षा के लिए शहीद हो जाते हैं। राष्ट्रभक्ति और देशभक्ति के कारण वे अपने प्राण न्यौछावर कर देते हैं। एक आध्यात्मिक व्यक्ति मोक्ष के लिए, अपने कल्याण के लिए आहार का परित्याग कर देता है। वह मरने के लिए नहीं, संसार समुद्र से तरने के लिए अनशन स्वीकार करता है। अनशन कर लेने के बाद न तो जीवन की आकांक्षा रहनी चाहिए और न जल्दी मरने की भावना रहनी चाहिए। समभाव के साथ तरने की कामना होनी चाहिए।

जीवन पर्यन्त आहार का परित्याग कर देना और आहार की आसक्ति को छोड़ देना विशिष्ट साधना है। इस साधना से औदारिक शरीर शिथिल होता है। इसके साथ-साथ कर्म शरीर भी प्रकंपित होता है। यह कर्म शरीर सूक्ष्म शरीर है। यह आदमी को जन्म-मरण कराता है। एक जन्म से अगले जन्म में ले जाता है। यह कर्म शरीर एक प्रकार का वाहन है। जैसे वाहन में बैठकर आदमी यात्रा करता है। वैसे ही कर्म शरीर के वाहन में बैठकर जीव एक जन्म से दूसरे जन्म तक जाने की यात्रा करता है। यह वाहन भी अन्य वाहनों की तरह क्षतिग्रस्त होता है। भक्त-प्रत्याख्यान के द्वारा इस वाहन को भी

क्षतिग्रस्त बनाया जा सकता है। फिर वह व्यक्ति को ज्यादा यात्रा नहीं करा पाएगा। परिणाम यह आएगा कि जन्म-मरण की परम्परा निरुद्ध हो जाएगी और कुछ समय अथवा कुछ जन्मों में ही आदमी मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् आचार और उसके साथ अनशन की साधना जन्म-मरण की परम्परा को संकुचित करने वाली होती है। प्रस्तुत आगम में एक परामर्श दिया गया—इस शरीर से जब तक बहुत लाभ होते हैं, जैसे—इस देह से सेवा करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, परोपकार करते हैं, साधना करते हैं, तब तक तो शरीर को पोषण दें। जब यह लगे कि इस शरीर से सेवा, साधना आदि कर सकूं, यह स्थिति नहीं रही, तब साधक को अनशन की दिशा में आगे बढ़ जाना चाहिए।

द्वादशांगी के प्रथम अंग आचारांग में भी एक निर्देश दिया गया है—**–आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं, हिच्चा उवसमं।** मुनि पहले पूर्व संबंधों को त्याग कर, इन्द्रिय और मन को शांत कर आपीड़न, फिर प्रपीड़न और फिर निष्पीड़न करे। दीक्षित होने के बाद मुनि क्या करे, इस जिज्ञासा के समाधान में तीन भूमिकाओं का प्रतिपादन किया गया है—१. आपीड़न २. प्रपीड़न ३. निष्पीड़न। प्रथम भूमिका में श्रुताध्ययन के श्रम से तथा श्रुतोपयोगी तप के आचरण से आपीड़न होता है। इस भूमिका का कालमान चौबीस वर्षों का है। बारह वर्षों तक मुनि सूत्र की आराधना करे। फिर बारह वर्षों तक अर्थ ग्रहण करे। दूसरी भूमिका में अनियत निवास-काल के कारण यात्रा करने में, धर्म का उपदेश देने में, शिष्यों के संवर्धन में, अध्यापन में तथा तप के आचरण में प्रकृष्ट पीड़न होता है। इसका कालमान बारह वर्षों का है। तीसरी भूमिका में संलेखना करने की अवस्था में उससे भी अधिक पीड़न होता है। इस भूमिका का कालमान भी बारह वर्षों का है। तीसरी भूमिका में मृत्यु का सामना करने का, मृत्यु की तैयारी करने का निर्देश मिलता है।

आदमी मृत्यु से भयभीत हो जाता है। यह उसकी कमजोरी होती है। मृत्यु को तो महोत्सव कहा गया है। वह महोत्सव तब बनती है, जब अनशन की स्थिति में हो, साधना की स्थिति में हो, समाधि की स्थिति में हो। आगम ग्रंथों में अनेक जगह इस बात को प्रतिपादित किया गया है कि एक साधु किस प्रकार साधना करता है, तपस्या करता है और फिर अनशन स्वीकार कर लेता

है। ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन में मुनि मेघ के बारे में यह बताया गया है कि तपस्या के द्वारा उसने अपने शरीर को इतना कृश बना लिया कि वह धमनियों का जाल मात्र हो गया। वह प्राणबल से चलता और प्राणबल से ठहरता। उठते-बैठते किट-किट शब्द होता। वह बोलने के पश्चात् ग्लानि का अनुभव करता, बोलते समय भी ग्लानि का अनुभव करता और बोलूंगा—ऐसा सोचकर भी ग्लानि का अनुभव करता। वह तप से उपचित तथा मांस व शोणित से अपचित हो गया। फिर अनशन को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार तपस्या के द्वारा शरीर को क्षीण कर साधक अनशन में स्थित होकर समाधिमरण का वरण कर लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण हमें आगम साहित्य में प्राप्त होते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान में केवल आहार का परित्याग ही न किया जाए, साथ में आसक्ति का भी त्याग किया जाए। अनासक्ति के बिना तपस्या करना भी कुछ कठिन प्रतीत होता है। हालांकि अनासक्त भाव से भी आहार किया जा सकता है। साधना का तो यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है—ज्ञाताद्रष्टा भाव में रहना, राग-द्वेष न करना और आसक्ति के दलदल में नहीं फंसना। आसक्ति के कारण व्यक्ति कष्टापन्न बन जाता है। स्पर्शनेन्द्रिय की आसक्ति के कारण हाथी बंधन में आ जाता है। हाथी को पकड़ने के लिए कागज की हथिनी बनाकर गड्ढे पर रख दी जाती है। हाथी उसे देखकर वहां जाता है। कागज की हथिनी तो फट जाती है और हाथी गड्ढे में गिर जाता है। फिर उसे पकड़ लिया जाता है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय की आसक्ति के कारण मांस खाने में गृद्ध बना हुआ मत्स्य कांटे से बींधा जाता है और अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। घ्राणेन्द्रिय का विषय है गन्ध। गन्ध की आसक्ति से नागदमनी आदि औषधियों की गन्ध में गृद्ध बना हुआ सर्प बिल से बाहर निकलता है और विनाश को प्राप्त हो जाता है। रूप की आसक्ति के कारण प्रकाश लोलुप पतंगा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। शब्दों की आसक्ति के कारण हरिण नामक पशु भी अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। प्राचीन साहित्य में अनेक प्राणियों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जो विषयों में आसक्त होने के कारण पकड़े जाते हैं और अन्ततः विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का एक सुन्दर श्लोक है—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

निराधार प्राणी के विषय छूट जाते हैं, किन्तु उनकी आसक्ति नहीं

छूटती। वह आसक्ति तब छूटती है जब उसके सामने कोई उत्कृष्ट रस होता है। भक्त-प्रत्याख्यान करने वाला साधक केवल आहार का परित्याग ही न करे, अपितु आहार के प्रति होने वाली आसक्ति का परित्याग करे। जब आहार और उसकी आसक्ति का त्याग किया जाता है, तब कर्म शरीर शिथिल होने लगता है। साथ में कषाय की मंदता का योग हो तो कर्म इतने कमजोर हो जाते हैं कि वे ज्यादा जन्म-मरण कराने में समर्थ नहीं होते। इस प्रकार भक्त-प्रत्याख्यान एक बड़ी साधना है।

श्रावक और साधु के तीन-तीन मनोरथ बताए गए हैं। उन दोनों का एक मनोरथ यह है—'वह समय कब आएगा, जब मैं जीवन के अन्त में अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना व्रत स्वीकार करूंगा और वृक्ष से कटी हुई डाली के समान अडोल रहता हुआ जीवन और मृत्यु की आकांक्षा न करता हुआ विचरण करूंगा।' जब ऐसा लगे कि शरीर हमें छोड़ने की तैयारी में है तब वह हमें छोड़े उसकी अपेक्षा हम उसे छोड़ने का प्रयास करें। यह वीरतापूर्ण मृत्यु होती है। मृत्यु तो होगी ही, यह निश्चित है। किन्तु वह साधना की अवस्था में हो, अनशन की अवस्था में हो, धर्मध्यान की स्थिति में हो, आत्मस्थता की स्थिति में हो तो वह मरण कल्याणकारी हो सकता है और आदमी मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

१०

सद्भाव-प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तं जहा—वेयणिज्जं आउयं नामं गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।** सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव अनिवृत्ति अर्थात शुक्लध्यान को प्राप्त करता है। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार केवलि-सत्क अर्थात केवली के विद्यमान चार कर्मों, जैसे वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र को क्षीण कर देता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, प्रशान्त होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

सद्भाव-प्रत्याख्यान का तात्पर्य है—पारमार्थिक प्रत्याख्यान। इस प्रत्याख्यान को करने के बाद कोई भी प्रत्याख्यान करना अवशेष नहीं रहता। यह अन्तिम प्रत्याख्यान है, परिपूर्ण प्रत्याख्यान है। यहां पहुंचने के बाद शुभयोग भी नहीं रहता। यह स्थिति एकमात्र चौदहवें गुणस्थान में निष्पन्न होती है। जैन साधना योग में चौदह गुणस्थानों का प्रावधान है। एक के बाद एक क्रमशः विकास की स्थितियां हैं। इनमें अंतिम स्थिति चौदहवां गुणस्थान है, जिसका नाम है—अयोगीकेवली गुणस्थान। केवलज्ञानी दो प्रकार के होते हैं—सयोगीकेवली और अयोगीकेवली। चौदहवें गुणस्थान में पहुंचा हुआ साधु

अयोगीकेवली बन जाता है। यहां पांचों आश्रवों का निरोध हो जाता है। मिथ्यात्व आश्रव, अविरति आश्रव, प्रमाद आश्रव और कषाय आश्रव का तो पहले ही निरोध हो जाता है। एक योग आश्रव शेष रहता है। जैसे ही चौदहवां गुणस्थान आता है, योग आश्रव भी समाप्त हो जाता है और इसके साथ ही सर्वथा आश्रव निरोध हो जाता है।

आश्रव को संसार का मूल माना गया है। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्यों का उल्लेख मिलता है—

१. दुःख है।

२. दुःख का हेतु है।

३. दुःख निरोध है।

४. दुःख निरोध का हेतु भी है।

इसी प्रकार जैनदर्शन के अनुसार यह कहा जा सकता है—

१. दुःख है।

२. दुःख का हेतु है।

३. मोक्ष है।

४. मोक्ष का हेतु भी है।

संसार में दुःख है और दुःख का हेतु है—आश्रव। नव तत्त्वों में पांचवां आश्रव नामक तत्त्व है। यह आश्रव ही संसार में बने रहने का कारण है। मोक्ष है और उसका कारण है—संवर। जहां आश्रव का विस्तार नहीं रहता और पांचों संवर—सम्यक्त्व संवर, व्रत संवर, अप्रमाद संवर, अकषाय संवर, अयोग संवर निष्पन्न हो जाता है, वह स्थान है—सद्भाव-प्रत्याख्यान का अथवा अयोगी-केवली का, जिसे शैलेषी अवस्था भी कहा जाता है। यहां बिलकुल अप्रकम्प दशा हो जाती है। मेरु पर्वत के समान जो महान और अप्रकम्प होते हैं, वे ही शैलेषी अवस्था को प्राप्त होते हैं।

शास्त्रकार ने कहा कि सद्भाव-प्रत्याख्यान से अनिवृत्ति की स्थिति निष्पन्न हो जाती है। अनिवृत्ति का मतलब है—न लौटना। जिस संवर को पाने के बाद व्यक्ति वापिस आश्रव में नहीं आता है, वह है—अनिवृत्ति। सद्भाव-प्रत्याख्यान की प्राप्ति के बाद वह साधक शेष चार अघाती कर्मों को भी क्षीण

कर देता है। फिर वह हमेशा के लिए सिद्ध हो जाता है, बुझ जाता है, शांत हो जाता है, परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है, सब दुःखों का अन्त कर लेता है।

दुनिया में दुःख है। आदमी दुःख से मुक्त होने के लिए कामना भी करता है और दुःख से दूर रहना चाहता है। परन्तु न चाहते हुए भी कभी-कभी दुःख आ जाते हैं। कभी शरीर में तकलीफ हो जाती है, बीमारी हो जाती है तो दुःख हो जाता है। किसी प्रिय व्यक्ति का वियोग हो जाता है अथवा अनिष्ट वस्तु का संयोग हो जाता है, तब भी दुःख हो जाता है। अन्य अनेक कारणों से दुःख हो सकता है। आदमी दुःख की स्थिति में मनोबल रखे, धैर्य रखे और सहन करने का अभ्यास करे। आदमी यह साधना करे कि हमेशा के लिए दुःख मुक्ति हो जाए। अध्यात्म की साधना करने से दुःखों से छुटकारा और पुण्य की प्राप्ति होती है। दुःख की स्थिति में कई बार वैराग्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसे मसाणिया वैराग कहा जाता है। जब आदमी श्मशान में जाता है। दाह-संस्कार के उपक्रम में जलती हुई चिता को देखता है, तब सोचता है कि यह मौत तो सबके पास आने वाली है। किस प्रकार देखते ही देखते आदमी मर जाता है। इसलिए मुझे अब साधना करनी चाहिए। एक बार अथवा कुछ समय के लिए ऐसी भावना आ सकती है। किन्तु जैसे ही वह कार्य संपन्न होता है, व्यक्ति पुनः अपने घर में आता है और पहले जैसी स्थिति बन जाती है। वह मसाणिया वैराग्य उतर जाता है। कुछ व्यक्तियों का वैराग्य इतना मजबूत होता है कि वे गृहवास को छोड़कर संन्यासी बन जाते हैं और साधना के लिए तत्पर हो जाते हैं।

सद्भाव-प्रत्याख्यान परम प्रत्याख्यान है। यह स्थिति अभी हम साधुओं को भी संप्राप्त नहीं है। हमें साधना करते-करते किसी जन्म में वह स्थिति प्राप्त होगी, ऐसा विश्वास है। इस जीवनकाल में तो सद्भाव-प्रत्याख्यान की संप्राप्ति संभव नहीं लगती, किन्तु जब साधना कुछ आगे बढ़ जाएगी तो निकट जन्मों में कभी न कभी यह स्थिति प्राप्त हो जाएगी, ऐसी आशा और विश्वास किया जा सकता है।

सद्भाव-प्रत्याख्यान की स्थिति चंचलता का पूर्ण निरोध होने पर प्राप्त होती है। आदमी चंचलता को कम करने का प्रयास करे। चंचलता की आत्मा तो आवेश-आवेग है। ये बड़ी बाधाएं हैं। यदा कदा आवेश-आवेग की

वृत्तियां मन में उभर जाती हैं। आदमी चंचलता को दूर करने के लिए एकाग्रता का विकास करे। एकाग्रता भी आर्त्तध्यान के रूप में न हो, शुद्ध हो। एक बगुला जब मछली पकड़ता है, कितना एकाग्र बन जाता है? आदमी सीरियल, सिनेमा आदि देखता है, उसमें भी मन एकाग्र हो सकता है। पेंटिग करने वाला व्यक्ति जब पेंटिग करता है तब उसमें भी मन एकाग्र हो सकता है। आदमी रुपये गिनता है, उसमें भी मन एकाग्र होता है। अन्य अनेक सावद्य कार्यों में एकाग्रता या तल्लीनता हो सकती है, परन्तु यह एकाग्रता मेरी दृष्टि में कोई बड़ी बात नहीं है। यह तो कहीं-कहीं त्याज्य होती है। यानी राग-द्वेषयुक्त एकाग्रता काम्य नहीं होती। यदि आदमी का मन भगवद्-स्मरण में लगा हुआ है, साधना के किसी प्रयोग करने में लगा हुआ है और संक्षेप में कहूं तो जिसमें वीतराग भाव जुड़ा हुआ है, वह एकाग्रता काम्य होती है। भौतिक चीजों में, सांसारिक सुखों में एकाग्रता का होना अध्यात्म की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं होती है।

प्रेक्षाध्यान की साधना के द्वारा मन को एकाग्र करने का प्रयास किया जाता है। ध्यान कराते समय एक शब्दावली का उच्चारण किया जाता है अथवा कराया जाता है कि केवल प्रेक्षा करो, केवल श्वास को देखो, शरीर के प्रकंपनों को देखो, कहीं भी प्रियता और अप्रियता का भाव न आए। न राग, न द्वेष, केवल ज्ञाताद्रष्टा भाव से देखो। यह ज्ञाताद्रष्टा भाव विकसित हो जाए तो साधना की उच्च भूमिका प्राप्त हो सकती है।

सभी क्रियाएं करते समय आदमी यह चिन्तन करे कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। ये क्रियाएं शरीर के द्वारा हो रही हैं। आंखें देख रही हैं, कान सुन रहे हैं, नाक गंध ले रहा है, जिह्वा स्वाद ले रही है। मैं तो चेतना हूं, ज्ञाताद्रष्टा हूं। यह ज्ञाताद्रष्टा का भाव आत्मा के निकट ले जाने वाला होता है। जब तक पूर्णता प्राप्त न हो जाए, तब तक निकटता प्राप्त होना भी अच्छी बात है। ज्ञाताद्रष्टा भाव का विकास करते-करते सद्भाव-प्रत्याख्यान के निकट पहुंच जाना भी आदमी की उपलब्धि होती है, कुछ अंशों में उसे सफलता मिलती है।

आदमी वीतरागभाव का विकास करे। साधना का मूल तत्त्व है—वीतरागता। जहां-जहां राग-द्वेष है, वहां-वहां हम अपने से दूर हो जाते हैं और जितना-जितना वीतरागभाव का विकास होगा, उतना-उतना हम अपने निकट आ जाएंगे। ज्यों-ज्यों वीतरागता का विकास होगा, आत्मा शुद्ध बनेगी, त्यों-

त्यों प्रमाद और कषाय कम होते जाएंगे। जैसे-जैसे प्रमाद और कषाय का भाव विगलित होगा, हम सद्भाव-प्रत्याख्यान के निकट पहुंच जाएंगे। जैसे ही चौदहवां गुणस्थान आता है, हम सद्भाव-प्रत्याख्यान की स्थिति में प्रविष्ट हो जाते हैं और उस भूमिका को प्राप्त कर लेते हैं, जहां से वापस कभी लौटना नहीं पड़ता। उस स्थिति में अनिवृति को प्राप्त हुआ साधक चार अघाती कर्मों को क्षीण कर मुक्त हो जाता है और सब दुःखों का अन्त कर डालता है।

११

प्रतिरूपता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**पडिरूवयाए णं भंते! जीव किं जणयइ?** भंते! प्रतिरूपता से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइसमत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइंदिए विउलतवसमिइसमन्नागए यावि भवइ।** प्रतिरूपता से वह लघुता को निष्पन्न करता है। उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्तलिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अप्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है।

साधना की विभिन्न पद्धतियां हैं। यहां प्रतिरूपता का मतलब है—अचेलता। वस्त्र के संदर्भ में दो प्रकार की परम्पराएं हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर परम्परा में निर्वस्त्र होकर साधना की जाती है। वर्तमान में भी अनेक साधु नग्न रहकर साधना करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सवस्त्र साधना की जाती है। दोनों परम्पराओं की अपनी-अपनी उपयोगिता है। निर्वस्त्र साधना सवस्त्र साधना की अपेक्षा कुछ कठिन है। सवस्त्र साधना के भी अनेक प्रकार हैं—

- श्वेताम्बर जैन साधु-साध्वियां श्वेत वस्त्रों को धारण करते हैं।
- सनातन परम्परा के संन्यासी गेरुए वस्त्र पहनते हैं।

- पार्श्व परम्परा के साधु पीले वस्त्र पहनते हैं।

सफेद वस्त्र उज्ज्वलता का प्रतीक है और अनासक्ति की साधना की दृष्टि से भी कुछ महत्त्व हो सकता है। वस्त्रों को धारण करना भी उद्देश्यपूर्ण होना चाहिए। साधु वस्त्र इसलिए धारण करे कि सर्दी आदि को कुछ निवारित किया जा सके और कुछ व्यावहारिक कठिनाई को भी दूर किया जा सके। वस्त्र धारण के पीछे विभूषा की भावना न रहे। आदमी के मन में यह भावना आ जाती है कि मुझे अच्छे से अच्छा कपड़ा मिले। मेरे कपड़े बिलकुल उजले रहें। कपड़ों को उजला रखने के लिए उन्हें धोना भी पड़ता है। चूंकि कपड़े पहनते हैं तो वे मलिन भी हो जाते हैं। मलिनता को दूर करने के लिए फिर सर्फ, पानी आदि लाने पड़ते हैं और कपड़ों का प्रक्षालन किया जाता है, प्रतिलेखन भी करना होता है, फटने पर सिलाई भी करनी होती है। इस प्रकार वस्त्र रखने से साधु का कितना समय इस बाह्य व्यवस्था में लग जाता है।

जो साधु निर्वस्त्र रहते हैं, उन्हें न कपड़ा लाने की जरूरत, न धोने की, न सिलाई की और न प्रतिलेखन करने की जरूरत होती है। वे इन सब बातों से कितने मुक्त रहते हैं और इस विषय में कितनी निश्चिंतता का जीवन जीते हैं। यद्यपि निर्वस्त्रता को कठोर तपश्चर्या कहा जा सकता है। अनेक संत-महात्मा लोग कठोरता का जीवन जीते हैं। वे शरीर को कष्टों में डालकर भी शांत रहने का अभ्यास कर लेते हैं। परन्तु कठोरता के साथ-साथ लक्ष्य साधना का होना चाहिए। न कोई दिखावा होना चाहिए और न कोई अन्य उद्देश्य होना चाहिए। कठोर साधना के साथ यदि लालसा या आकांक्षा रहती है तो साधना में कुछ कमी रह जाती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया -

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः रात्रौ चिबुकसर्पितजानू।
करतलभिक्षा तरुतलवासः तदपि न मुञ्चत्याशापाशः।।

कठोर तपस्या करने वाले कुछ साधक गर्मी के समय चारों ओर अग्नि जला लेते हैं। पीछे से सूर्य का आतप आता है। कितनी ऊष्मा को वे सहन करते हैं। सर्दी के मौसम में रात्रि के समय निर्वस्त्रता की स्थिति में ठुड्डी को घुटनों के लगाकर सिकुड़कर बैठ जाते हैं यानी सर्दी को सहन करने का प्रयास करते हैं। अन्यथा सर्दी में आदमी कितने कंबल या कितने कपड़े ओढ़ता है। वैसी स्थिति में निर्वस्त्र होकर सर्दी को सहन करना कठोर साधना है। भिक्षा के द्वारा जीवनयापन करना, किसी के सामने हाथ फैलाना, मांगकर खाना कोई

सामान्य बात नहीं है। आदमी के स्वाभिमान पर चोट लग सकती है। इस प्रकार भिक्षा से भोजन प्राप्त करना भी कठिन काम है। इतना ही नहीं, यदि साधक या साधु को रहने के लिए स्थान या मकान न मिले तो वह पेड़ के नीचे रहता है। इतनी कठोर साधना कर लेने पर भी वह आशा, लालसा अथवा आकांक्षा के पाश में इतना जकड़ जाता है कि उससे मुक्त होना कठिन हो जाता है। गर्मी को सहन करना उसके लिए संभव हो गया। वह सर्दी को भी सहन कर लेता है। कइयों को तो परवशता के कारण सर्दी सहन करनी पड़ती है और कई स्ववशता से सर्दी को सहन करते हैं।

एक गरीब ब्राह्मण राजा के पास गया। सर्दी का मौसम था। राजा ने पूछा—भैया? तुम्हारे पास तो पहनने के लिए भी पूरे कपड़े नहीं हैं। तुम इतनी सर्दी को कैसे सहन करते हो? ब्राह्मण ने काव्य की भाषा में उत्तर देते हुए कहा—**राजन्! शीतं मया नीतं, जानुभानुकृशानुभिः।**

हे राजन्! सर्दी से बचने के लिए मेरे पास तीन उपाय हैं—जानु, भानु और कृशानु। पहला उपाय है—जानु यानी घुटनों को इकट्ठा करके सिकुड़कर बैठ जाता हूं। दूसरा उपाय है—भानु अर्थात् जब सूर्योदय हो जाता है, तब धूप में जाकर बैठ जाता हूं, सूर्य के आतप से सर्दी को दूर करता हूं। तीसरा उपाय है— कृशानु यानी अग्नि जलाकर सर्दी को दूर करता हूं। यह तो परवशता की स्थिति है। एक साधक तो स्ववशता में कपड़ों का त्याग करके सर्दी को सहन करता है। हमारे संघ में अनेक साधु-साध्वियां ऐसे हैं, जिनके पास कपड़े हैं, किन्तु वे उनका उपयोग कम करते हैं और कर्म-निर्जरा की भावना से सर्दी को सहन करते हैं। इतना कठोर जीवन जीते हैं फिर भी कभी-कभी मन में आकांक्षा बनी रहती है। वह साधु की साधना को कमजोर बना देती है। इसलिए साधक लालसा न रखे।

शास्त्रकार ने प्रतिरूपता के अनेक लाभ बताए हैं। पहला लाभ है—लघुता। साधु के लिए आगम में **अप्पोवही** कहा गया है। अप्प का अर्थ है अल्प और उवही का अर्थ है उपधि। अल्प के दो अर्थ होते हैं—बिलकुल उपधि का न होना अथवा थोड़ी उपधि का होना। पूर्णरूपेण छोड़ना मुश्किल हो तो उपकरणों का ज्यादा संग्रह न हो। जो अचेलता की साधना करता है, वह वस्त्र नहीं रखता है। इसलिए कितने उपकरणों से उसे मुक्ति मिल जाती है और वह लघुता को प्राप्त हो जाता है।

दूसरा लाभ है—उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ वह अप्रमत्त होता है। जो कपड़े रखते हैं, उनके मन में कई तरह की बातें आ सकती हैं, जैसे—मुझे कपड़ा छोटा अथवा बड़ा मिल गया, मोटा मिल गया, मनोज्ञ नहीं मिला। कपड़े हैं तो उन्हें अपेक्षानुसार धोना, सीना आदि भी पड़ता है। अचेलता की साधना करने वाला प्रमाद के कुछ निमित्तों से मुक्त रह सकता है।

तीसरा लाभ है—वह प्रकट लिंग वाला होता है। जो अचेल होता है, उसका लिंग सहज ही प्रकट होता है। एक सवस्त्र मुनि के मन में कोई विकार भी आ गया तो उसे अधिक खतरा नहीं होता क्योंकि ऊपर आवरण है। किन्तु निर्वस्त्र मुनि के मन में यदि विकार आ जाता है तो वह विकार सबके सामने आ जाता है। अचेल साधक को कितनी निर्विकारता की साधना करनी होती है। वह इतना अभ्यास तो अवश्य करे कि मेरा विकार कम से कम दृश्य तो न बने। विकार रहे ही नहीं, यह तो बहुत ऊंची साधना होती है।

चौथा लाभ है—वह प्रशस्त लिंग वाला होता है। उसका लिंग विकृत आदि न हो। अचेल साधना वही कर सकता है, जिसका लिंग प्रशस्त होता है।

पांचवां लाभ है—उसका सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। साधना में जब इतनी रुचि हो जाती है तो सम्यक्त्व भी ज्यादा निर्मल बन सकता है।

छठा लाभ है—वह समाप्त-सत्त्व-समिति होता है अर्थात् वह पराक्रमशील और सम्यक् प्रवृत्ति वाला होता है।

सातवां लाभ है—वह सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वासपात्र होता है।

आठवां लाभ है—अप्रतिलेखन। सवस्त्र मुनि को कितने उपकरणों का दिन में दो बार प्रतिलेखन करना होता है, जबकि अचेल साधक अप्रतिलेखना वाला बन जाता है।

नौवां लाभ है—वह जितेन्द्रिय यानी इन्द्रिय विजय की साधना करने वाला होता है।

दसवां लाभ है—वह विपुल तप और सर्वत्र समितियों का प्रयोग करने वाला होता है।

कपड़ों को काम में न लेना, अपने आपमें बड़ी तपस्या है। उसके साथ निर्विकार रहना महान तपस्या है। हर किसी साधक के लिए यह आसान काम नहीं है।

अचेल की साधना करने वाले साधक को लज्जा पर विजय प्राप्त करनी होती है। अन्यथा आदमी के मन में इतना संकोच होता है कि नग्नता को स्वीकार करना बड़ा कठिन हो जाता है। शास्त्रीय विधान के अनुसार अचेलता की साधना मात्र पुरुष के लिए ही विहित है। अनेक साधना के प्रयोग या लब्धियां हैं, जो मात्र पुरुष के लिए ही मान्य हैं, महिलाओं के लिए नहीं। दिगम्बर जैन परम्परा में तो यहां तक माना गया है कि स्त्री मुक्ति को प्राप्त कर ही नहीं सकती। हालांकि इसमें मतभेद है, श्वेताम्बर परम्परा का मन्तव्य है कि स्त्री को भी मुक्ति पाने का अधिकार है। खैर, अपने-अपने सिद्धांत हैं। किन्तु नग्नता की साधना तो मात्र पुरुषों के लिए ही विहित है। नग्नता और सवस्त्रता का अपना-अपना उपयोग है। जो यथार्थ है, उसे स्वीकार करना चाहिए। मूल बात है कि साधक राग-द्वेष विजय का अभ्यास करे। जो वस्त्र नहीं रखते हैं, उनके यदि राग-द्वेष प्रबल हैं तो मुक्ति नहीं मिल सकेगी। जो कपड़े तो रखते हैं, किन्तु राग-द्वेष शून्य हो गये तो मुक्ति मिलने में बाधा नहीं होगी। यद्यपि मैं निर्वस्त्रता का विरोध नहीं कर रहा हूं। निर्वस्त्र रहना बड़ी कठोर साधना का अभ्यास है। किन्तु इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राग-द्वेष मुक्ति का अभ्यास किसका कितना है? परीषहों को सहने का अभ्यास किसका कितना है? अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में शांत रहने का अभ्यास किसका कितना है? साधक राग-द्वेष मुक्ति की साधना करे।

हमारे सबसे निकट अपना शरीर है। शरीर के प्रति आसक्ति हो जाती है, परन्तु महान् साधना वह है—जहां शरीर के प्रति भी आसक्ति न रहे। शरीर का उपयोग करना है, इसलिए उसको भाड़ा यानी वेतन भी देना पड़ता है। जैसे लोग अपने घरों में नौकर रखते हैं तो उसको वेतन भी देते हैं। इसी प्रकार हमारा शरीर भी नौकर है, कर्मचारी है। इसको भी वेतन देना होगा। वेतन के रूप में शरीर को भोजन मिल जाए, पानी मिल जाए, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि से बचाने का कुछ प्रयास हो जाए, रुग्ण होने पर दवा का प्रयोग किया जाए, यह सारा शरीर को वेतन चुकाना हो जाता है। अन्यथा शरीर का शोषण हो जाएगा। एक मालिक कर्मचारी से पूरा श्रम लेता है, किन्तु वेतन पूरा नहीं देता

है तो कर्मचारी के साथ शोषण हो जाता है। यदि कर्मचारी वेतन पूरा लेता है, किन्तु श्रम कम करता है तो मालिक का शोषण होता है। इसी प्रकार शरीर को पूरा वेतन नहीं चुकाते हैं तो एक दृष्टि से शरीर का शोषण होता है। शरीर से साधना करनी है तो उसको वेतन चुकाना होगा ताकि वह हमारी साधना में बाधा उत्पन्न न करे, अपितु साधना में सहयोगी बना रहे।

आर्षवाणी में ठीक कहा गया कि प्रतिरूपता प्रशस्त है। इससे लघुता का विकास होता है, हल्कापन आता है। साधक अनेक समस्याओं से बच जाता है। इसलिए विशेष साधना करने वाले लोग संभवतः वस्त्र मुक्त रहते हैं, किन्तु सवस्त्र होना भी साधना का एक प्रकार है। उसमें भी साधना की जा सकती है और बहुत उच्च कोटि की भूमिका पर भी आरोहण किया जा सकता है। क्योंकि वस्त्र तो आखिर बाहर है। हमारे भीतर तो कषाय है। यदि कषाय पतला हो गया अथवा क्षीण हो गया तो कपड़ा है तो ठीक और न है तो ठीक, आत्मा का कल्याण हो जाएगा।

१२

वैयावृत्त्य से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! वैयावृत्त्य (साधु-संघ की सेवा करने) से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ।** वैयावृत्त्य से वह तीर्थंकर-नाम-गोत्र कर्म का अर्जन करता है।

निर्जरा के बारह भेदों में एक है वैयावृत्य। सीधी भाषा में उसे सेवा कहा जा सकता है। सेवा का महत्त्व गृहस्थ समाज में भी है और साधु संस्था में भी है। क्योंकि जहां शरीर है, मन है, वहां सेवा की अपेक्षा हो जाती है। साधु के भी शरीर है, मन है। गृहस्थ के भी शरीर है, मन है। इनमें यदाकदा रुग्णता की स्थिति भी पैदा हो सकती है। रुग्णता न भी हो तो भी सहयोग लेने की या सहयोग देने की स्थिति बन जाती है। ऐसी स्थिति में सेवा का महत्त्व बढ़ जाता है। जो व्यक्ति अक्षम हो, उसके लिए तो सेवा नितान्त अपेक्षित हो जाती है। जिस संगठन में, समुदाय में सेवा का क्रम ठीक नहीं चलता है, परस्पर सहयोग की भावना नहीं होती है, वह संगठन कभी टूटने की स्थिति में भी आ सकता है। सेवा एक ऐसा उपक्रम है जो व्यक्ति-व्यक्ति को जोड़ने वाला और सदस्यों को एक दूसरे के साथ सम्पृक्त करने वाला होता है। परिवारों में, घरों में अगर सेवा की व्यवस्था ठीक है तो परिवार का क्रम अच्छा चलता है। यदि सेवा की व्यवस्था ठीक नहीं है तो परिवारों में भी गड़बड़ी की स्थिति पैदा हो सकती है।

सेवा करना कोई सामान्य काम नहीं है, परम गहन है। क्योंकि कई बार सेवा करते-करते भी जो सेवा ले रहा है वह संतुष्ट नहीं होता। उसकी ओर से असंतोष की बात आ जाती है। सेवा भी करना और सेवा लेने वाले की ओर से असंतोष की बात आ जाना, सेवा करने वाले के मन में व्यथा पैदा करने वाला हो सकता है। उसको भी सहन करना और फिर भी सेवा करते रहना कुछ कठिन काम होता है। आलोचना-प्रशंसा आदि की परवाह किये बिना नितान्त कर्त्तव्य भाव से या निर्जरा के भाव से सेवा करना एक बड़ी साधना होती है। हमारे धर्मसंघ में सेवा की व्यवस्था की जाती है। अनेक सेवाकेन्द्र स्थापित हैं, जहां अक्षम, वृद्ध, रुग्ण साधु-साध्वियों को स्थापित किया जाता है और उनकी सेवा के लिए व्यवस्था की जाती है। मर्यादा महोत्सव के दिनों में बसंत पंचमी के दिन सेवाकेन्द्रों में सेवा देने वाले वर्गों की व्यवस्था की जाती है क्योंकि संगठन में सेवा बहुत आवश्यक है। यदि सेवा की सम्यक् व्यवस्था नहीं होती है तो साधु-साध्वियों के मन में अरति की स्थिति पैदा हो सकती है और संघ से उनका मन विचलित भी हो सकता है।

हमारे धर्मसंघ में तो ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि किस प्रकार साधु-साध्वियां अपने सेव्यों की सेवा करते हैं, आचार्यों की सेवा करते हैं। सेवा के लिए वे कष्ट भी झेल लेते हैं। सेवा करने में कुछ-कुछ व्यक्ति तो काफी प्रवीण होते हैं। हालांकि सब व्यक्ति समान नहीं होते हैं। कुछ संस्कारों का भी संबंध होता है। सेवा के अनेक प्रकार हैं। किसी को ज्ञान देना भी सेवा है। किसी को तत्त्व समझाना भी सेवा है। व्याख्यान देना भी सेवा है। लोगों को उपासना कराना भी सेवा है। परन्तु शारीरिक सेवा और उसके साथ मानसिक सेवा का अपना मूल्य है। किस प्रकार मन प्रसन्न रह सके, चित्त समाधि में रह सके, ऐसा प्रयास करना एक बड़ी सेवा होती है। सेवा में एक बात ध्यातव्य है कि निष्काम भाव है या नहीं? यदि कामना है तो फिर सेवा का मूल्य कम हो जाता है। सेवा के प्रतिफल में कुछ भी पाने की आकांक्षा न हो मात्र सेवा भावना, कर्त्तव्य भावना या निर्जरा की भावना से सेवा करनी चाहिए। व्यवस्था की दृष्टि से सेवा करना एक बात है और आत्मीय भाव से सेवा करना अलग बात है। जहां सेवा करने वाले के मन में आत्मीय भावना होती है वहां सेवा अच्छी हो सकती है। हमारे धर्मसंघ में आज भी अनेक वृद्ध साधु-साध्वियां हैं, कुछ रुग्ण भी हैं। उनकी सेवा करने वाले कुछ संत-साध्वियां कितनी आत्मीय

भावना से सेवा करते हैं। फिर दो नहीं मानो वे एक हो जाते है। उनमें अद्वैत-सा हो जाता है। वे अपनत्व, स्नेह और निर्जरा की भावना के साथ इस रूप में उनकी सेवा करते हैं कि सेवा लेने वाले भी निश्चिन्त और व्यवस्था करने वाले भी निश्चिन्त रहते हैं। व्यवस्थागत सेवा का भी उपयोग है किन्तु उसमें उतनी गरिमा नहीं आती, जो गरिमा आत्मीय भाव से की जाने वाली सेवा में आती है। सेवा में विवेक होना जरूरी है कि किस समय किस प्रकार की सेवा करनी चाहिए? किस समय क्या अपेक्षा है? उस अपेक्षा के प्रति जागरूकता रहे और सेवा के प्रति समर्पण की भावना हो।

शिक्षा जगत की ओर देखें। शिक्षक भी ज्ञान-दान के रूप में सेवा देने वाला व्यक्ति होता है। कितने विद्यार्थियों का उसके द्वारा निर्माण होता है। शिक्षक निष्ठा के साथ विद्यार्थियों को ज्ञान दान देता है, अपने जीवन व्यवहार से भी प्रशिक्षण देता है और साथ में संस्कार देने का प्रयास भी करता है तो शिक्षक के द्वारा विद्यार्थी जगत की एक अच्छी सेवा हो जाती है। जहां शिक्षक के सामने केवल वेतन मुख्य हो जाता है और शिक्षा व संस्कार देना नम्बर दो पर आ जाता है तो फिर उस सेवा की गरिमा कुछ कम हो जाती है। शिक्षक और शिक्षार्थी का एक आत्मीय संबंध होना चाहिए। शिक्षक इस बात के प्रति समर्पित रहे कि मुझे विद्यार्थियों का निर्माण करना है, इनका भला करना है, इनको तैयार करना है। विद्यार्थी भी शिक्षक के प्रति समर्पित रहे कि मुझे ज्ञान और संस्कार ग्रहण करने हैं। इस प्रकार की सेवा को जहां महत्त्व दिया जाता है, वहां शिक्षक और विद्यार्थी अधिक सफल हो सकते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में आत्मीय भाव से सेवा की जाए।

साधु-संतों की सेवा करना महान निर्जरा का हेतु माना जाता है। उसके साथ पुण्य का विशेष रूप से बंध होता है। तीर्थंकर पद-प्राप्ति के बीस हेतु बताए गए हैं। उनमें से एक हेतु है—सेवा करना। यदि उत्कृष्ट भाव के साथ चारित्रात्माओं की सेवा की जाती है तो तीर्थंकर नामगोत्र का बंध हो सकता है। यह सेवा भावना साधक को मोक्ष की ओर ले जाने वाली होती है।

१३

सर्वगुणसंपन्नता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**सव्वगुणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! सर्व-गुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्तिं जणयइ। अपुणरावत्तिं पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।** सर्व-गुण-संपन्नता से वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता।

सर्वगुणसंपन्नता का सीधा सा अर्थ है—समस्त गुणों से संपन्न होना और अपुनरावृत्ति से तात्पर्य है उस स्थान को प्राप्त कर लेना, जहां पहुंचने के बाद वापिस आना नहीं पड़ता। वह स्थान है—मोक्ष। जैनदर्शन के अनुसार संसारी आत्मा संसार में भ्रमण करती रहती है, जन्म और मृत्यु के चक्र में संचरण करती रहती है। जब उसका आवागमन अवरुद्ध हो जाता है, तब वह हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो जाती है। आत्मा की इस स्थिति का निर्माण सर्वगुणसम्पन्नता की अवस्था में ही होता है।

सर्वगुणसंपन्नता के चार आयाम हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र। इन चारों की प्राप्ति ही सर्वगुणसंपन्नता है।

पहला आयाम है—अनन्त ज्ञान। जब पूर्णतया अज्ञान का क्षय होता है, तब संपूर्ण ज्ञान का प्रकाशन होता है। इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में

केवलज्ञान कहा जाता है। केवलज्ञान होने के बाद कोई भी ज्ञान अवशेष नहीं रहता। अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है और सारे आवरण दूर हो जाते हैं। यह अनन्त ज्ञान की प्राप्ति सर्वगुणसंपन्नता का पहला आयाम है।

दूसरा आयाम है—अनन्त दर्शन। दर्शन शब्द ज्ञान के साथ ही जुड़ा हुआ है। दर्शन शब्द के अनेक अर्थ हैं। दर्शन का पहला अर्थ है देखना। दर्शन शब्द का दूसरा अर्थ है—सिद्धांत, जैसे जैनदर्शन बौद्धदर्शन आदि। दर्शन का तीसरा अर्थ है—सामान्य अवबोध। यह जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण और पारिभाषिक शब्द है। विशेष ज्ञान पर्यायों का बोध होना ज्ञान कहलाता है और सामान्य अथवा अनाकार रूप में जो अवबोधित होता है, वह दर्शन कहलाता है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति प्रवचन-पाण्डाल में आया और उसने देखा कि वहां बहुत सारे लोग बैठे हैं। इस बात को जानना दर्शन हो गया और फिर विश्लेषण करना कि वहां पूज्य आचार्यप्रवर फरमा रहे हैं। इतने साधु-साध्वियां हैं। इतने श्रावक-श्राविकाएं हैं आदि विवेचन करना ज्ञान हो गया। अभेद रूप में जो अवबोध है, वह दर्शन है और भेद रूप में विश्लेषण युक्त जो अवबोध है, वह ज्ञान है।

तीसरा आयाम है—क्षायिक सम्यक्त्व। अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के क्षीण होने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह सम्यक्त्व आने के बाद वापिस कभी जाता नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद वह उसी जन्म में या तीसरे जन्म में निश्चित ही मोक्ष जाता है।

चौथा आयाम है—यथाख्यात चारित्र। यह चारित्र प्राप्त होने के बाद वापिस कभी जाता नहीं है। इसे क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है। यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के बाद चारित्र की दृष्टि से कुछ भी अवशेष नहीं रहता, पूर्णरूप से चारित्र उपलब्ध हो जाता है।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र की उपलब्धि का मतलब है—सर्वगुणसंपन्नता की प्राप्ति होना। सर्वगुणसंपन्नता का पहला परिणाम है—अपुनरावृत्ति (मोक्ष) की प्राप्ति। जिस मनुष्य को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह निश्चित रूप से अपुनरावृत्ति को प्राप्त करता है। उसी जीवन के बाद अथवा उसी जीवन की मृत्यु के बाद उसे

अनिवार्य रूप से मोक्ष प्राप्त होता है। यह केवलज्ञान एकमात्र मनुष्य को ही प्राप्त होता है। मनुष्य के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी को केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसलिए दुनिया में कोई सर्वश्रेष्ठ प्राणी है तो वह मनुष्य है। यह भी एक तथ्य है कि जहां मनुष्य केवलज्ञान प्राप्त करने की अर्हता रखता है, वहीं मनुष्य भयंकर पाप भी कर सकता है।

एक आदमी बम विस्फोट करता है अथवा हिंसा का कोई ऐसा प्रयोग करता है, जिससे एक साथ अनेक मनुष्यों का संहार हो जाता है, महान नरसंहार हो सकता है। ऐसी विनाश की लीला कोई आदमी ही दिखा सकता है, पशु के वश की बात नहीं होती। इस दृश्य दुनिया में यदि सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है तो अधम प्राणियों में भी मनुष्य का नाम बहुत ऊंचा आ सकेगा। सर्वगुणसंपन्नता भी आदमी प्राप्त कर सकता है और अधमसंपन्नता भी मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। अपेक्षा है, मनुष्य अपने जीवन में गुणों का विकास करे। अनेक जन्मों की साधना से सर्वगुणसंपन्नता सिद्ध हो सकती है। इसलिए एक ही जन्म में साधना करने से सर्वगुणसंपन्नता आ जाए, यह कहना तो कठिन है। किन्तु आदमी यह लक्ष्य बनाए कि मुझे सर्वगुणसंपन्न बनना है। आदमी अपने जीवन के कमजोर पक्ष को छोड़ता जाए और गुणात्मक पक्ष की दिशा में मजबूती के साथ कदम आगे बढ़ाता जाए। किसी व्यक्ति को मूर्ति का निर्माण करना है। पत्थर उसके पास है। जो कलाकार होता है, वह उस पत्थर में से अनावश्यक पत्थर को निकालता जाता है और निकालते-निकालते मूर्ति का निर्माण हो जाता है। आदमी के जीवन में भी जो विजातीय दुर्गुण हैं, उनको निकालने का प्रयास करे और गुणों को बढ़ाने का लक्ष्य रहे तो गुणात्मक विकास हो सकता है।

आदमी में अवगुण भी हो सकते हैं और सद्‌गुण भी हो सकते हैं। दुर्गुणों को अस्वीकार करते हुए सद्‌गुणों को स्वीकार करें तो गुणों का विकास हो सकता है। एक पिता के दो पुत्र थे। बड़े लड़के के जीवन में दुर्गुणों का विकास हो रहा था और छोटे लड़के के जीवन में सद्‌गुणों का विकास हो रहा था। किसी व्यक्ति ने बड़े लड़के से पूछा—भैया! तुम्हारे में इतने अवगुण हैं, इतनी बुराइयां हैं, यह तुमने कहां से सीखी? बड़े लड़के ने कहा—यह सब मैंने अपने पिताजी से सीखा है। फिर छोटे लड़के से पूछा—भैया! तुम इतने शालीन, सज्जन और सद्‌गुण-संपन्न हो। तुमने यह अच्छाइयां कहां से ग्रहण की? छोटे

बेटे ने कहा—महाशय! यह सब मैंने अपने पिताजी के जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर ग्रहण की है। पृच्छक के मन में जिज्ञासा हुई कि बड़े पुत्र ने बुराइयां भी पिताजी से सीखी और छोटे पुत्र ने अच्छाइयां भी पिताजी से सीखी, यह कैसे हो सकता है? आखिर दोनों को अपनी बात का रहस्य प्रकट करने के लिए कहा। बड़े बेटे ने कहा—मैंने देखा कि पिताजी बीड़ी पीते हैं, शराब पीते हैं, गालियां बोलते हैं और कई गलत काम करते हैं। उनको देखते-देखते मेरे में भी वैसे संस्कार आ गए। मैं भी बीड़ी पीने लग गया, शराब पीने लग गया, गालियां देने लग गया और कई गलत बातें मैंने ग्रहण कर ली। छोटे पुत्र ने कहा—मान्यवर! मैंने देखा कि पिताजी बीड़ी पीते हैं, शराब आदि पीते हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। वे अस्वस्थ रहने लगे। वे गालियां बोलते हैं, अपशब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे उनकी प्रतिष्ठा कम हो गई। वे असम्मान के पात्र बन रहे हैं। वे गलत आचरण करते हैं, जिससे उनका जीवन खराब हो गया। मैंने अपने पिताजी के जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर यह निर्णय कर लिया कि मैं कभी भी इन बुराइयों को अपने जीवन व्यवहार में नहीं आने दूंगा। इस प्रकार मेरा जीवन अच्छा बन गया।

आदमी बुराइयों को देखे, अच्छाइयों को देखे। दोनों को जानने-समझने के बाद उसी को ग्रहण करे, जो उपादेय है। जैसा कि दसवेआलियं सूत्र में कहा गया है—**जं छेयं तं समायरे** जो श्रेयस्कर है, कल्याणकारी है, उसी का आचरण करे। जो गलत है, उसका आचरण न करे। शास्त्रकार ने सर्वगुणसंपन्नता से अपुनरावृत्ति की प्राप्ति बतलाई है और उसके साथ शारीरिक व मानसिक दुःखों से मुक्त होने की बात भी कही है। आदमी के जीवन में गुणसंपन्नता है तो अनेक समस्याओं से, अनेक कठिनाइयों से छुटकारा मिल जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी को गाली नहीं देता, मधुरभाषी है, सबके साथ विनम्रता और मृदुतापूर्ण व्यवहार करता है तो लोग भी उसे सम्मान देते हैं, उसके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। क्योंकि उसका व्यवहार अच्छा है। उसमें विनम्रता और शालीनता का गुण है। इसलिए जो असम्मान या अपमान की स्थिति प्राप्त होती है, उसका कारण स्वयं का अशिष्ट व्यवहार बनता है। उससे व्यक्ति को दुःख होता है। शालीन व्यवहार वाला व्यक्ति उस दुःख से मुक्त हो सकता है।

किसी व्यक्ति में खाने का असंयम है, जिसके कारण खाने के बाद

उसका पेट गड़बड़ा जाता है, स्वास्थ्य में कठिनाई हो सकती है। उससे उसे कष्ट होता है, दुःख होता है। इसलिए भोजन में यदि संयम हो तो व्यक्ति को तत्संबंधी दुःख से छुटकारा मिल सकता है। शरीर में बीमारी आदि के होने से शारीरिक समस्या पैदा हो जाती है तो कभी-कभी आदमी के मन की कुण्ठा भी बड़ी दुःखदायी बन जाती है। शरीर में कांटे की चुभन कष्टदायी होती है तो मन में चुभने वाला कांटा भी कष्टदायी होता है। कई बार उस मन में चुभने वाले कांटे का दूसरों को पता नहीं चलता, किन्तु आदमी उसकी वेदना को भोगता रहता है।

राजा और मंत्री में परस्पर मित्रता का संबंध था। एक दिन राजा ने देखा कि आजकल मंत्री बहुत उदास रहता है। इसका कारण क्या है? खोजबीन करने के बाद भी जब कारण का पता नहीं चला तो आखिर मंत्री से ही पूछा—मंत्रीवर! इतना उदास चेहरा कैसे है? तुम तो इतने हंसते-खिलते और खुशमिजाजी थे, अब खिन्नमना कैसे बन गए हो? मंत्री ने अपनी बात बताने में संकोच किया, किन्तु राजा ने दवाब दिया, तब मंत्री ने कहा—महाराज! हम दोनों युवा अवस्था के हैं। अभी कुछ दिनों पहले आपने एक कन्या के साथ शादी की थी। उस कन्या के प्रति मेरे मन में आकर्षण था। मैं उसके साथ शादी करना चाहता था, किन्तु वह मुझे नहीं मिली। इसलिए वह शल्य मेरे भीतर चुभ रहा है। वह मुझे बार-बार याद आती रहती है, किन्तु वह मुझे अप्राप्त है। इसलिए मेरा मन दुःखी हो रहा है। राजा भी गजब का व्यक्ति था। राजा ने कहा—मंत्री! बस इतनी सी बात है। तुम चिन्ता मत करो। इसकी व्यवस्था हो जाएगी। राजा तत्काल नवोढा के पास पहुंचा और उससे पूछा—क्या तुम्हें मेरा आदेश स्वीकार्य है? रानी ने कहा—प्राणनाथ! आप तो मेरे प्राणाधार हैं। आप जैसा कहेंगे, मैं वह करने को तैयार हूं। राजा ने कहा—आज सायंकाल तुम मंत्री के घर चली जाना। आज रात्रि में तुम्हें वहीं रहना है। यह बात सुनते ही रानी अवाक् रह गई। यह कैसा आदेश? परन्तु आदेश तो आदेश होता है। रानी सायंकाल अपने महल से रवाना हुई। मंत्री के निवास स्थल के निकट पहुंच गई। मंत्री ने ज्योंही रानी को आते देखा, मन बदल गया। राजा की पत्नी तो माता के समान होती है। उसके प्रति मेरे मन में ऐसा दुर्भाव कैसे आ गया? मंत्री रानी के सामने गया, प्रणाम किया और कहा—पधारो माताजी! आपने बड़ी कृपा की। रानी को भोजन कराया और वापिस महल की ओर रवाना कर

दिया। अब मंत्री ने सोचा—मेरे मन में एक माता तुल्य महारानी के प्रति विकार भाव आ गया। अब मुझे जीने का अधिकार नहीं है। वह तलवार से अपनी गर्दन अलग करने ही वाला था कि तत्काल राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया। संयोग से राजा किसी गुप्त मार्ग से मंत्री के घर में पहले से ही आ चुका था। मंत्री ने कहा—महाराज! मुझे मरने दीजिए। मैं आपको मुंह दिखाने लायक नहीं हूं। राजा ने कहा—मंत्री! मुझे विश्वास था कि तुम्हारे द्वारा कोई गलत व्यवहार हो नहीं सकता। तभी तो मैंने अपनी प्रिया को तुम्हारे पास भेजा था। मंत्री के मन का कांटा निकल गया और दुःखी मन प्रसन्न हो गया।

आदमी को कोई ऐसा महावैद्य मिल जाए, मन की बीमारी को दूर कर सके, मन की समस्या का समाधान कर सके। ऐसे महावैद्य के योग से मनोव्यथा दूर हो सकती है, मन का कांटा निकल सकता है और आदमी का मन सुखी बन सकता है। आदमी अपने जीवन में सद्‌गुणों का विकास करे। विकास करते-करते एक समय ऐसा आ सकता है, जब सर्वगुणसंपन्नता की स्थिति प्राप्त हो सकती है।

१४

वीतरागता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**वीयरागयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! वीतरागता से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुन्नेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ।** वीतरागता से स्नेहबंधन व तृष्णाबंधन का विच्छेद होता है और मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध से वह विरक्त हो जाता है।

वीतरागता अध्यात्म-साधना की मुख्यतम भूमिका है। सामान्य आदमी राग और द्वेष के बंधन से बंधा हुआ होता है। राग और द्वेष को कर्म का मूल बताते हुए प्रस्तुत आगम में कहा गया है—

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाइमरणं वयंति।।

राग और द्वेष—ये दो कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से पैदा होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही दुःख है। इसलिए दुःख का मूल कारण राग-द्वेष बन जाता है। वीतराग वह होता है, जो राग-द्वेष के बंधन को समाप्त कर देता है। गुणस्थान की अवधारणा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक व्यक्ति वीतराग नहीं बनता। ग्यारहवें गुणस्थान में वीतराग बन जाता है, किन्तु

पूर्णतः नहीं। वह उपशान्तमोह वीतराग बनता है। उपशान्तमोह वीतराग होने का तात्पर्य है, जो भीतर में रागभाव अथवा कषाय है, वह दबा हुआ है, परन्तु अभी तक क्षीण नहीं हुआ है। जिस प्रकार अंगारे पर यदि राख डाल दी जाती है तो वह ऊपर से बुझा हुआ लगता है, किन्तु कुछ ही क्षणों में वह राख हट जाती है और उसका अंगारत्व प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार उपशान्तमोह वीतराग व्यक्ति के भीतर भी कषाय विद्यमान रहता है। मात्र एक बार ऊपरी स्तर पर वीतरागता आ जाती है। इसलिए उपशान्तमोह बन जाना कोई पूर्ण वीतरागता की स्थिति नहीं होती। उपशान्तमोह वीतराग गुणस्थान एक भव की अपेक्षा दो बार और अनेक भवों की अपेक्षा चार बार आ सकता है। बारहवें गुणस्थान में पूर्णतया वीतरागता प्राप्त हो जाती है। आदमी पूर्ण वीतराग बन जाता है। वहां पुनः कभी भी राग-द्वेष का भाव नहीं आ सकता, क्योंकि कषाय को क्षीण कर दिया जाता है। जब कषाय क्षय हो जाता है, फिर वह कभी भी पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता। जो उपशान्त होता है, वह पुनः प्रकट हो सकता है। इस प्रकार वीतराग के दो प्रकार हो जाते हैं—उपशान्तमोह वीतराग और क्षीणमोह वीतराग।

प्रश्न हो सकता है कि वीतरागता से क्या लाभ है? शास्त्रकार ने तीन लाभ बताए हैं—१. स्नेहानुबंध का विच्छेद २. तृष्णानुबंध का विच्छेद ३. मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध में विरक्ति का भाव।

अपने पुत्र, मित्र, पिता, पत्नी आदि संबंधीजनों के प्रति जो प्रीति का भाव होता है, वह स्नेहानुबंध कहलाता है और जो पदार्थों के प्रति, धन, मकान और भौतिक चीजों के प्रति आकर्षण होता है, वह तृष्णानुबंध कहलाता है। मनोज्ञ विषयों के प्रति न राग का भाव होता है और न द्वेष का भाव होता है, वह है विरक्ति का भाव। इन्द्रिय-विषयों के प्रति समभाव का निर्माण होना वीतरागता का स्वरूप है अथवा वीतरागता से निष्पन्न होने वाली स्थिति है। जैनधर्म में 'वीतराग' शब्द आता है और श्रीमद्भगवद्गीता में 'स्थितप्रज्ञ' शब्द उपलब्ध होता है। स्थितप्रज्ञ कौन होता है? इसका सुन्दर चित्रण करते हुए गीता में कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

जो दुःखों में कभी उद्विग्न नहीं बनता, सुखों के प्रति प्रियता नहीं रखता और जिसने राग, भय, क्रोध को जीत लिया है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। जो अनुकूलता की स्थिति में खुशी नहीं मनाता और प्रतिकूलता की स्थिति में दुःखी नहीं बनता। जो कामनाओं को सर्वत्र छोड़ देता है, अपने आपमें संतुष्ट रहता है, वह व्यक्ति उस भूमिका में स्थितप्रज्ञ कहलाता है। उसकी प्रज्ञा स्थित होती है। वह प्रतिष्ठित प्रज्ञा वाला होता है। वीतराग और स्थितप्रज्ञ—इन दोनों शब्दों का स्वरूप एक ही प्रतीत होता है। जिसको वीतरागता अथवा स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो गई तो मानना चाहिए कि उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। उसने अध्यात्म का संपूर्ण वैभव प्राप्त कर लिया।

जैन परम्परा में नमस्कार महामंत्र का बहुत महत्त्व है। इस महामंत्र में पांच पद हैं—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि। ये पांचों पद वीतरागता से संबंधित हैं। यदि नमस्कार-महामंत्र से वीतरागता को अलग कर दिया जाए तो फिर शेष कुछ नहीं बचेगा। प्रथम पद है—णमो अरहंताणं। अर्हत् केवली होते हैं। ये पूर्ण वीतरागी होते हैं। दूसरा पद है—णमो सिद्धाणं। सिद्ध भगवान केवली होने के बाद की स्थिति है। ये आठों कर्मों को क्षीण कर पूर्णतया वीतरागी होते हैं। तीसरा पद है—णमो आयरियाणं। आचार्य वीतरागता के साधक होते हैं और वीतराग पथ को दिखाने वाले होते हैं। चौथा पद है—णमो उवज्झायाणं। उपाध्याय वीतराग वाणी के साधक और वीतराग पथ का बोध देने वाले होते हैं। पांचवां पद है—णमो लोए सव्वासाहूणं। लोक के समस्त शुद्ध साधु वीतराग या वीतरागता की साधना करने वाले होते हैं। इस प्रकार नमस्कार-महामंत्र के पांचों पदों में केन्द्रीय तत्त्व वीतरागता है। यह एक पवित्र मंत्र है।

आदमी वीतरागता के लिए स्नेहानुबंध से मुक्त रहने का प्रयास करे। उसमें तृष्णानुबंध भी न रहे। सिक्ख परम्परा के गुरु गोविन्दसिंहजी के पास अनेक शिष्य उपासीन थे। गुरुजी ने कहा—जिसका उच्चारण शुद्ध हो, वह मुझे आर्षवाणी सुनाए। गोपाल नाम का एक शिष्य गुरु के पास आया और निवेदन किया—गुरुदेव! मुझे आज्ञा प्रदान करें। मैं आपको शुद्ध पाठ सुनाऊं। गुरु ने अनुमति दे दी। शिष्य आर्षवाणी सुनाने लगा। इस बीच एक घटना और घटित होती है। एक व्यक्ति उपहार स्वरूप कुछ घोड़े लेकर आया। उनमें एक घोड़ा नीले रंग का था। गुरुजी स्वाध्याय/आर्षवाणी सुनते-सुनते यह चिन्तन कर रहे

थे कि यह शिष्य योग्य प्रतीत हो रहा है। मैं वृद्धावस्था में हूं। मेरा इतना बड़ा समुदाय है। मुझे पीछे की व्यवस्था करनी है। अच्छा होगा, यथावसर मैं गोपाल को अपना उत्तराधिकार सौंप दूं। गोपाल ने जैसे ही उन घोड़ों को देखा, तत्काल बोल उठा—गुरुजी! यह नीला घोड़ा तो आप मुझे दे देंगे ना? गुरुजी ने कहा—गोपाल! तुम घोड़े में ही उलझ गए। मैं तो तुम्हें अपना उत्तराधिकार सौंपने की सोच रहा था। अब तुम्हें घोड़ा तो मिल जाएगा, किन्तु उत्तराधिकार नहीं मिलेगा। गोपाल की इस लालसा या तृष्णा ने गुरु गोविन्दसिंहजी के मन को बदल दिया।

आदमी कभी-कभी छोटी-छोटी बातों में उलझ जाता है और बड़े लाभ से वंचित रह जाता है। हालांकि उत्तराधिकार का मिलना या न मिलना कोई खास बात नहीं है। विशेष बात है—योग्यता अर्जित करना। योग्यता के अर्जन में यह स्नेहानुबंध और तृष्णानुबंध बाधक बन सकता है। इसलिए आदमी इन बंधनों से मुक्त होने का प्रयास करे। इनका पूर्णतः विच्छेद तब होता है, जब वीतरागता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। हम साधक हैं। श्रावक भी एक प्रकार का साधक होता है। हमारा लक्ष्य रहे कि हम वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ें। हमारे मन में यह निराशा का भाव न आए कि वर्तमान जन्म में तो पूर्ण वीतरागता मिलेगी नहीं, फिर इतनी साधना क्यों करें? बिना मतलब इतना कष्ट सहन क्यों करें? मेरे ख्याल से यह चिन्तन ठीक नहीं है। पूर्ण वीतरागता न मिले, किन्तु अपूर्णता प्रायः नष्ट हो जाए, यह भी बड़ी उपलब्धि है। इसलिए आशा और निष्ठा के साथ आदमी वीतराग बनने की दिशा में आगे बढ़े, अभ्यास करे और यह साधना करे कि मेरा विषय भोगों के प्रति जो आकर्षण का भाव है, वह कम हो। मैं उन विषयों से दूर रहने का अभ्यास करूं। यदि कोई व्यक्ति मेरी प्रशंसा करता है और वह प्रशंसा मुझे आकृष्ट करती है अथवा प्रशंसा सुनने की उत्सुकता रहती है तो मानना चाहिए कि मेरे मन में उन शब्दों के प्रति राग-भाव है, आकर्षण का भाव है। आदमी ऐसी स्थितियों से बचे और उनमें राग व द्वेष का भाव न आए, ऐसा अभ्यास करे।

आदमी भोजन करते समय भी यह ध्यान दे कि जिस चीज के प्रति मन में आकर्षण का भाव है, मैं उसे नहीं खाऊंगा। धीरे-धीरे आदमी का मनोबल बढ़ते-बढ़ते इतना मजबूत बन जाता है कि वह मनोज्ञ पदार्थों का परित्याग भी कर देता है। कई बार डॉक्टर के निषेध करने पर आदमी को मनोज्ञ पदार्थों को

छोड़ना पड़ता है, यह तो मजबूरी होती है, किन्तु आदमी आत्मसंयम की दृष्टि से उसे छोड़े। साधुओं के उपदेश को तो आदमी माने या न माने किन्तु डॉक्टर की बात को तो कई बार मानना पड़ता है, वरना मौत सामने दिखाई देती है। अच्छा हो कि आदमी साधुओं की बात मान ले, आत्मा की बात मान ले, अध्यात्म की बात मान ले और स्ववश होकर भोगों का त्याग कर, भोग्य सामग्री उपलब्ध होने पर भी संयम करे। इसी प्रकार यदि मनोज्ञ रूप सामने आता है, मन उसके प्रति आकृष्ट होता है तो वहां से दृष्टि को हटा लेनी चाहिए। जैसे मध्याह्न में सूर्य की ओर देखने से तत्काल दृष्टि नीचे हो जाती है, वैसे ही मनोज्ञ रूप सामने आए तो साधक की दृष्टि तत्काल नीचे हो जाए। ये साधना के प्रयोग हैं। इस प्रकार प्रयोगों के द्वारा व्यक्ति राग-भाव को दूर करे, द्वेष भाव से बचे और वीतरागता के पथ पर आगे बढ़े।

१५

क्षांति से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**खंतीए णं भंते! जीव किं जणयइ?** भंते! क्षांति के द्वारा जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**खंतीए णं परीसहे जिणइ।** क्षांति से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

आध्यात्मिक साहित्य में क्षमा का बहुत महत्त्व है। आत्म-साधना की दृष्टि से कषाय-विजय बहुत आवश्यक है। कषाय-विजय का एक आयाम है—क्षमा की साधना। शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययन की वृहद्‌वृत्ति में क्षांति का एक अर्थ किया है—**–क्षांतिः क्रोधजयः** गुस्से को जीत लेना क्षांति है। क्षांति का एक अर्थ है—मन के प्रतिकूल कोई परिस्थिति आ जाए, उसे सहन कर लेना। संस्कृत व्याकरण के अनुसार सहन करने के अर्थ में क्षमूच् धातु का प्रयोग किया जाता है, जिससे क्षांति शब्द निष्पन्न होता है। सहन करना जीवन का एक बहुत बड़ा गुण है और एक प्रकार का तप भी है। अच्छी जीवनशैली के तीन सूत्र बताए गए हैं—

- कम खाना—आहार का संयम करना।
- गम खाना—सहन करना।
- नम जाना—विनम्रता का प्रयोग करना।

गम खाना जीवन को सफल बनाने का तरीका है और आत्म-कल्याण की दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण उपाय है, साधना है। उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे

अध्ययन में बाईस परीषहों का उल्लेख मिलता है। साधु का धर्म है कि वह बाईस परीषहों को सहन करे। प्रश्न हो सकता है कि मुनि परीषहों को सहन क्यों करे? समाधान दिया गया—**मार्गाच्यवननिर्जरार्थम्।** स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों को क्षय करने के लिए मुनि परीषहों को सहन करे। जैसे समरांगण में शूरवीर योद्धा होता है, वह शत्रुओं से परास्त नहीं होता। यथापेक्षा उन पर प्रहार करने की कोशिश करता है। सामने वाले के प्रहारों से घबराकर यदि सैनिक पीछे लौट जाए तो वह गौरव की बात नहीं होती। उसके लिए एक लघुता की अथवा लज्जा की बात होती है। सैनिक के लिए दो बातें गौरवास्पद होती हैं—

- शत्रुओं के साथ लड़कर विजय प्राप्त करना।
- शत्रुओं से लड़ते-लड़ते शहीद हो जाना।

साधु भी धर्म-समरांगण का एक सैनिक होता है। वह इस धर्म-समरांगण में परास्त हो जाए, परीषहों से घबरा जाए, साधुत्व को छोड़ने की भावना मन में आ जाए अथवा साधुत्व को छोड़ दे तो वह उसके लिए लज्जा की बात होती है। साधु के लिए गौरव की बात है कि वह परीषहों को सहन करे। क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्णता आदि विभिन्न प्रकार की स्थितियां आ सकती हैं। कभी भोजन पूरा मिले और कभी न भी मिले, इसलिए साधु के लिए कहा जाता है—**कदेइ घी घणा और कदेइ मुट्ठी चणा** यानी मुनि को कभी अच्छा और पर्याप्त मात्रा में भोजन मिल सकता है, कभी रुखा-सूखा और अल्प मात्रा में मिल सकता है अथवा कभी बिलकुल भी नहीं मिलता। साधु-साध्वियां यात्रा करते हैं। अनेक गांवों/शहरों में जाते हैं। कहीं सम्मान मिलता है तो कहीं पर लोग तिरस्कारपूर्ण भाषा का प्रयोग भी कर सकते हैं। इन सब स्थितियों को साधु शांत भाव से सहन करे।

सहनशीलता तो गृहस्थ समाज के लिए भी अपेक्षित है। कोई कार्यकर्ता है या नेता है, उसकी कोई आलोचना करे, गालियां दे या कभी मारपीट भी हो जाए तो कार्यकर्ता और नेता को परिस्थितियों व आलोचना आदि को प्रसन्न मन से सहन करना चाहिए और अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ते रहना चाहिए। राजनीति के क्षेत्र में भी कहीं-कहीं प्रतिपक्ष की कितनी आलोचना या निन्दा की जाती है। अच्छा कार्य किया जाता है उसमें भी कोई-न-कोई नुस्ख

निकालने का प्रयास किया जाता है फिर भी राजनीति के लोगों को भी सहन करना चाहिए। जहां सहिष्णुता की ज्यादा कमी है या गुस्से की ज्यादा वृत्ति है, वहां कठिनाई पैदा हो जाती है।

एक पिता के सात पुत्र थे। सात पुत्रों के बाद एक पुत्री का जन्म हुआ। वह मां-बाप और भाइयों की लाडली थी। जब यौवन की दहलीज पर पांव रखा तो पिता ने सोचा—लड़की की शादी कर देनी चाहिए। क्योंकि कन्या के लिए कहा गया है—**अर्थो हि कन्या परकीय**—कन्या तो पराया धन है। इसे लम्बे काल तक घर में नहीं रखना चाहिए। समय आने पर उसकी शादी कर देनी चाहिए। पिता ने पुत्री की शादी के लिए बातचीत की किन्तु कठिनाई एक ही थी कि वह बहुत गुस्सैल थी, कहना नहीं मानती थी। आखिर एक युवक मिल गया और लड़की की शादी कर दी गई। किन्तु वह ससुराल में सामंजस्य नहीं बिठा सकी। कुछ दिनों बाद भाई अपनी बहन को अपने घर ले आया।

बातचीत के दौरान पिता ने पूछा—बेटी! तुम्हारा ससुराल कैसा है?

लड़की—पिताजी! आपने मुझे कहां भेज दिया? अच्छा होता कि आप मुझे गला घोंटकर यहीं मार देते। वह तो साक्षात् नरक है।

पिता—तुम्हारे ससुरजी कैसे हैं?

बेटी—मेरे ससुरजी तो डाकी हैं।

पिता—तुम्हारी सास कैसी है?

बेटी—वह तो डायन है।

पिता—तुम्हारी ननद कैसी है?

बेटी—वह तो चुड़ैल है।

पिता—तुम्हारा पति कैसा है?

बेटी—वह तो साक्षात् यमदूत है।

पिता—बेटी! मेरे पास एक दवा है, जिसे लेने से तुम्हारा ससुराल स्वर्ग बन जाएगा।

बेटी—पिताजी! वह कौनसी दवा है और कब लेनी है?

पिता—ससुराल में जब कोई कुछ कहे तो तुम कमरे में जाकर यह दवा ले लेना और पन्द्रह मिनट तक मुंह में रखना। फिर गले से नीचे उतार देना।

कुछ दिनों बाद लड़की ससुराल गई। अब उसे कोई कुछ भी कहता तो वह कमरे में जाती और दवा मुंह में ले लेती। किसी को कुछ भी नहीं बोलती। वह बिलकुल शांत रहती। लम्बे समय तक यह क्रम चलता रहा। फिर सास ने सोचा, बहु तो बिलकुल बदल गई है, बहुत सयानी हो गई है। तब सास ने परिवार के सभी सदस्यों को बुलाकर कहा—खबरदार है मेरी बहु को किसी ने कुछ कहा तो! मेरी बहुरानी के लिए कोई भी असम्मानपूर्ण शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता। फिर सास ने बहुरानी से कहा—बहुरानी! मैं तो अब वृद्ध हो गई हूं। ये घर की चाबियां अब तुम ही संभालो। तुम जैसा कहोगी, हम सब वैसा ही करेंगे। घर में बहु का सम्मान बहुत बढ़ गया। घर के सारे कार्य उसके निर्देश से संपन्न होने लगे। कुछ दिनों बाद बहु का भाई अपनी बहन को लेने के लिए आया। सास ने कहा—हमारी बहु को बहुत जल्दी वापिस पहुंचा देना। हमारे घर के सारे कार्य यही संभालती है।

जब बहु अपने पीहर आई और बातचीत के दौरान पिता ने पूछा—बेटी! अब तुम्हारा ससुराल कैसा है?

बेटी—पिताजी! आप द्वारा प्रदत्त दवा ने तो कमाल कर दिया। मेरा ससुराल तो स्वर्ग है।

पिता—तुम्हारे ससुरजी कैसे हैं?

बेटी—पिताजी! आपसे भी ज्यादा वात्सल्य देते हैं।

पिता—तुम्हारी सास कैसी है?

बेटी—वो तो मेरी मां से भी अधिक ममत्व भाव रखती हैं।

पिता—तुम्हारी ननद कैसी है?

बेटी—मेरी ननद तो मुझे अपनी सगी बहन से भी ज्यादा चाहती है।

पिता—तुम्हारा पति कैसा है?

बेटी—वे तो साक्षात् परमात्मा-परमेश्वर हैं।

अब सब विशेषण बदल गए। यह सब कैसे हुआ? क्षांति यानी सहनशीलता एक ऐसा तत्त्व है जो सबमें बदलाव ला सकता है और दूसरों के लिए सम्माननीय भी बना देता है। क्षांति के द्वारा जब व्यक्ति गुस्से पर नियंत्रण कर लेता है तब वह परीषहों, कठिनाइयों और समस्याओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और शांत भाव से अच्छा जीवन जी सकता है।

१६

मुक्ति से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**मुत्तीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! मुक्ति से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अपत्थणिज्जो भवइ।** मुक्ति से व्यक्ति अकिंचन बन जाता है। अकिंचन व्यक्ति अर्थलोलुप व्यक्तियों के लिए अप्रार्थनीय हो जाता है।

मुक्ति शब्द धार्मिक साहित्य का प्रसिद्ध शब्द है। मुक्ति का सीधा-सा अर्थ है—मोक्ष। किन्तु यहां मुक्ति का अर्थ है—निर्लोभता यानी लोभ नहीं करना, संतोष धारण कर लेना। मुक्ति से अकिंचनता आ जाती है। अकिंचन का एक अर्थ है—निर्धन यानी आदमी को धन नहीं मिला या प्राप्त धन चला गया। इसलिए विवशता के कारण वह निर्धन बन जाता है, किन्तु यहां अकिंचन का मतलब है—स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त धन का भी आदमी त्याग कर देता है और अकिंचन बन जाता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

अकिंचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवे।
योगीगम्यमिदं प्राहुः, रहस्यं परमात्मनः।।

प्रश्न हुआ कि तीन लोक का नाथ कौन बन सकता है? तीन लोकों का स्वामी वह बनता है, जो अकिंचन बन जाता है। जिसके पास कुछ नहीं, सब कुछ त्याग दिया, वह तीन लोक का स्वामी होता है। जिसके पास कुछ है, वह कुछ का स्वामी होता है। जिसके पास एक लाख रुपये की संपत्ति है। वह एक

लाख का स्वामी है। जिसके पास एक करोड़ है, वह एक करोड़ का मालिक है—उससे ज्यादा का नहीं। किन्तु अकिंचन तो सबका स्वामी है। योगियों के द्वारा गम्य, योगियों के द्वारा ज्ञात एक रहस्य है तीन लोकों का नाथ बनने का और जो तीन लोकों का नाथ बन गया वह फिर परमात्मा ही बन जाएगा। साधु तो परमात्मा का प्रतिनिधि होता है। जिसने परिग्रह का त्याग कर दिया, भोगों का त्याग कर दिया, हिंसा आदि का त्याग कर दिया, वह मानो परमात्मा का ही दूसरा रूप है।

शास्त्रकार ने ठीक कहा है कि मुक्ति के द्वारा आदमी अकिंचनता को प्राप्त हो जाता है और जो अकिंचन है, उसके पास अर्थलोलुप लोग प्रार्थना नहीं करते। गृहस्थों के पास पैसा है। उनके पास कोई चन्दा लेने भी आ सकता है। किन्तु हम साधुओं से कौन चन्दा मांगेगा? हां, इतना तो कह सकते हैं कि आपके काफी भक्त हैं। आप कोई इशारा कर दें तो वे हमें चन्दा दे देंगे। कोई व्यक्ति ऐसी मांग भी कर सकता है कि आप लोग त्यागी हैं, महात्मा हैं, आप ऐसा कोई मंत्र बता दें या ऐसा आशीर्वाद दे दें, जिससे हमें पैसा मिल जाए। साधु के पास एक ऐसी चीज होती है जो हर किसी के पास नहीं होती और वह है अध्यात्म की साधना, त्याग और संयम की साधना। पैसा छोटी संपदा है और संयम बड़ी संपदा है। त्यागी और संयमी साधु के पास कोई पैसा मांगने नहीं आता, किन्तु कोई पैसा देने के लिए आ जाता है।

मैं एक बार श्रीगंगानगर अंचल की यात्रा कर रहा था। एक दिन एक सरदारजी मुझे रास्ते में मिले। उन्होंने अपनी जेब से कुछ पैसे निकाले और मुझे देने लगे। मैंने पंजाबी भाषा में कहा—असि जैन साधु पैसा नहीं लेंदे अर्थात् हम जैन सन्त पैसा नहीं लेते हैं। उसने कहा—आप अहिंसा की बातें बताते हो और पैसे नहीं लेकर मेरा दिल दुखाते हो। पैसा तो आपको लेना ही पड़ेगा। मैने उसे समझाने का प्रयास किया, किन्तु वह अपने आग्रह पर अडिग रहा। फिर मैंने कहा—सरदारजी! आपका घर कहां है? हम आपके घर चलते हैं। घर में आकर सरदारजी भिक्षा देने की बात में लग गये, पैसे की बात भूल गए। प्रस्तुत प्रसंग को बताने का तात्पर्य यह है कि साधु के पास पैसे देने के लिए फिर भी कुछ लोग आ जाते हैं, किन्तु पैसे मांगने कोई नहीं आता। साधु अकिंचन हो, यही अपेक्षित है। मुक्ति के द्वारा वह चेतना जागृत हो जाती है, जहां धन और पदार्थ के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। आदमी को संतोष

धारण करना चाहिए। कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध की सभा जुड़ी हुई थी। प्रश्न हुआ कि इस परिषद् में सबसे ज्यादा सुखी आदमी कौन है? बुद्ध ने कहा—अंतिम पंक्ति में जो आदमी फटे पुराने कपड़े पहने बैठा है, वह सबसे ज्यादा सुखी है। पुनः प्रश्न हुआ कि वह तो इतना गरीब है, फिर सबसे ज्यादा सुखी कैसे है? बुद्ध ने कहा—उसके मन में कोई आकांक्षा नहीं है, कोई लालसा नहीं है, इसलिए वह सुखी है। दुःखी वह होता है, जिसके मन में कामनाएं रहती हैं। परीक्षण के लिए सभासदों से पूछा गया—आपको क्या चाहिए? किसी ने कहा—मुझे धन चाहिए। किसी ने कहा—मुझे संतान चाहिए। किसी ने कहा—मुझे मकान चाहिए। किसी ने कहा—मुझे ऊंचा पद चाहिए। कोई-न-कोई कामना सबके मन में थी। जब उस गरीब व्यक्ति से पूछा गया—तुम्हें क्या चाहिए? उसने कहा—मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं अपने आपमें संतुष्ट हूं। जो व्यक्ति अपने आपमें संतुष्ट रहता है, वह परमसुखी बन जाता है। जब धन की लालसा बढ़ जाती है, तब व्यक्ति की क्या स्थिति बनती है, वह कितना दुःखी बन जाता है।

एक लड़का किसी बाबाजी के पास गया और गिड़गिड़ाकर बोला—बाबाजी! मैं बहुत दुःखी हूं। मेरी मां मर गई। मेरा पिता भी स्वर्गवासी बन गया। मैं अकेला हूं। खाने के लिए पूरी रोटी भी नहीं मिलती है। आप कुछ कृपा करें तो मेरा काम बन जाए। बाबाजी कुछ सिद्धियों के वेत्ता थे। उन्होंने लड़के की हथेली पर अंक १ लिख दिया और कहा—अब तुम्हें प्रतिदिन एक रुपया अपने आप मिल जाएगा। उस एक रुपये से वह चाय-बिस्किट खरीद लेता। एक सप्ताह बाद फिर बाबा ने पूछा—वत्स! अब तो ठीक है ना? लड़का बोला—बाबाजी! इस महंगाई के जमाने में एक रुपये से क्या होता है? बाबा को दया आ गई, कहा—लाओ, तुम्हारा हाथ मुझे दो। लड़के की हथेली में पहले अंक १ लिखा हुआ था, उसके आगे एक शून्य लगा दिया और कहा—अब तुम्हें प्रतिदिन दस रुपये मिल जाएंगे। इन दस रुपयों से वह कुछ नाश्ता और भोजन कर लेता। फिर कुछ दिनों बाद बाबाजी ने पूछा—वत्स! अब तो ठीक है ना? लड़का बोला—बाबाजी! क्या बताऊं? भोजन तो मिल जाता है, किन्तु पहनने के लिए कपड़े अच्छे नहीं हैं। बाबाजी ने उसकी हथेली पर एक शून्य और लिख दिया। अब उसे प्रतिदिन सौ रुपये मिलने लगे। लड़के ने अच्छे कपड़े खरीद लिए। कुछ दिनों बाद फिर बाबा ने

पूछा—अब कैसे है? लड़के ने कहा—बाबाजी! कुछ कृपा और करें तो मेरा अपना मकान बन जाए। बाबा ने एक शून्य और लिख दिया। अब प्रतिदिन उसे हजार रुपये मिलने लगे। लड़के ने एक मकान खरीद लिया, फिर मांग की—बाबाजी! थोड़ी कृपा और हो जाए तो मैं व्यापार शुरु कर दूं। बाबाजी ने एक शून्य पुनः बढ़ा दिया। अब दस हजार मिलने लगे। लड़के ने व्यापार कर लिया। फिर निवेदन किया—मैं नगरसेठ बनना चाहता हूं इसलिए और कृपा करें। बाबा ने फिर एक शून्य बढ़ा दिया। अब हमेशा एक लाख रुपये मिलने लगे। लड़के ने फिर निवेदन किया—बाबाजी! मैं ठाठ-बाट के साथ शादी करना चाहता हूं इसलिए थोड़ी कृपा और करें। बाबा ने एक शून्य और बढ़ा दिया। अब प्रतिदिन दस लाख रुपये मिलने लगे। कुछ दिनों बाद बाबाजी ने पूछा—वत्स! अब तो ठीक है ना? लड़के ने कहा—बाबाजी! क्या बताऊं? आजकल न तो पूरी भूख लगती है, न रात्रि में अच्छी नींद आती है। दिमाग में कई बातें घूमती रहती हैं। कितने टेक्स चुकाने पड़ते हैं। यह भय बना रहता है कि कहीं रेड न पड़ जाए। तनाव रहता है, स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता है। बाबाजी ने कहा—वत्स! जब तुम्हारे पास कुछ नहीं था, तब तुम कितने स्वस्थ थे, प्रसन्न थे। आज वह स्वस्थता और प्रसन्नता गायब हो गई। बाबा ने लड़के के हाथ को अपने हाथ में लिया। लड़के ने सोचा—एक शून्य और बढ़ायेंगे, किन्तु बाबा ने उल्टा कर दिया। अंक १ को हटा दिया। शून्य शेष रह गए। लड़का बोला—बाबाजी! यह क्या किया? बाबा ने कहा—वत्स! मैंने तुमको कितना दिया, फिर भी तुम दुःखी बने रहे। मैं तुम्हें सुखी बनाना चाहता हूं, इसलिए आकांक्षाओं को सीमित करो।

जब लालसा बढ़ जाती है, तब मुक्ति दब जाती है, निर्लोभता निस्तेज हो जाती है। आदमी लोभ की चेतना को संयमित करने का प्रयास करे, संतोष का अभ्यास करे। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

असंतोषपरामूढा, संतोषं यान्ति पण्डिताः।
असंतोषस्य नास्त्यन्तः, संतोषं परमं सुखम्।।

मूढ़ आदमी असंतोष में परायण होते हैं और पंडित लोग संतोष को धारण करते हैं। असंतोष का अन्त नहीं होता। इसलिए संतोष ही परम सुख होता है। कई बार आदमी वृद्धत्व को प्राप्त हो जाता है, फिर भी लालसा बनी रहती है। यह लोभ की चेतना इतनी गहरी है कि इसकी जड़ों को उखाड़ना

महान साधना है। जिसके पास संकल्प का बल है, अभ्यास का बल है, वह व्यक्ति अपने अभ्यास और साधना के द्वारा इस लोभ की जड़ को उखाड़ने में सफल हो सकता है और मुक्ति की स्थिति को प्राप्त कर अकिंचनता को प्राप्त हो जाता है। साधु के लिए तो काम्य है ही कि वह निर्लोभता का अभ्यास करे, परन्तु गृहस्थ के लिए भी वांछनीय है कि वह इच्छाओं की सीमा करे। जैन वाङ्मय में श्रावक के बारहव्रतों का वर्णन मिलता है। उसमें पांचवां व्रत है—इच्छा-परिमाण। इच्छाओं का परिसीमन करो और अनिच्छा का अभ्यास करो। श्रावक समाज बारहव्रतों को समझे और उन्हें धारण करने का प्रयास करे। जो व्यक्ति साठ वर्ष पार कर चुके हैं, उनको विशेष रूप से बारहव्रती श्रावक बनने का प्रयास करना चाहिए। जिससे उनके जीवन में धार्मिकता साकार हो जाए और उनकी चेतना त्याग, संयम से युक्त हो जाए। वे धर्म की दिशा में आगे बढ़ जाएं और वास्तविक धर्म उनके जीवन में आ जाए। धर्म है तो हमारी रक्षा है। हम धर्म का हनन करेंगे तो धर्म हमारा हनन करेगा। हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा। वह धर्म है त्याग, संयम आदि। संयम के द्वारा मुक्ति की साधना करके आदमी संतोषवान एवं अकिंचन बन जाता है और अर्थलोलुप लोगों के लिए अप्रार्थनीय बन जाता है।

१७

ऋजुता से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**अज्जवयाए णं भंते! जीवे किं जयणइ ?** भंते! आर्जव से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।** आर्जव से वह काय ऋजुता, भाव ऋजुता, भाषा ऋजुता और अविसंवादन को निष्पन्न करता है। अविसंवादन-संपन्नता से जीव धर्म का आराधक बन जाता है।

अध्यात्म की साधना में कषाय-विलय का महत्त्व है। कषाय-विलय का एक आयाम है—ऋजुता। क्रोध-विजय का संबंध शान्ति के साथ, मान-विजय का संबंध मृदुता के साथ, लोभ-विजय का संबंध मुक्ति यानी निर्लोभता के साथ और माया-विजय का संबंध ऋजुता के साथ है। ऋजुता के साथ सत्य का संबंध होता है और माया के साथ झूठ का संबंध होता है। जिसमें ऋजुता होती है, वही व्यक्ति सत्य की सम्यक् आराधना कर सकता है। जैसे सूर्य पर बादलों का आवरण आने से वह निस्तेज हो जाता है, वैसे ही माया का आवरण आ जाने से सत्य का सूर्य भी निस्तेज हो जाता है। जहां माया है, वहां अविश्वास को उत्पन्न होने का अवसर मिल जाता है। आचार्य सोमप्रभसूरि ने सूक्ति मुक्तावली में सुन्दर कहा है—

मायामविश्वासविलासमन्दिरं,
दुराशयो यः कुरुते धनाशया।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते,
यथा बिडालो लगुडं पयः पिबन्।।

माया अविश्वास का क्रीड़ाघर है। दुष्ट अभिप्राय वाला व्यक्ति धन की इच्छा से माया करता है। वह अर्थ-अनर्थ की वैसे ही परवाह नहीं करता, जैसे दूध पीता हुआ बिलाव लाठी के प्रहार की परवाह नहीं करता है। इसी प्रकार माया करने वाला व्यक्ति भी यह चिन्तन नहीं करता है कि मैं पकड़ा जाऊंगा, तब मेरा क्या हाल होगा?

मायाचार साधना का बड़ा विघ्न है। साधक को सरल होना चाहिए। जो बात जैसी है, उसको उसी रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। जिसमें सरलता है, उसमें संतता है। सन्त का लक्षण है—सरल होना। मैं संत की परिभाषा यह करता हूं कि जो शान्त होता है, वह संत होता है। जो अशान्त है, उग्र है, जिसमें कषाय का प्राबल्य है, वह सन्त नहीं अथवा उसकी सन्तता में कमी है। इसलिए साधु को सरल होना चाहिए। सरलता के संदर्भ में शिशु को उदाहरित किया जाता है। परन्तु बच्चे में सरलता अज्ञान से जुड़ी हुई है, इसलिए मैं उसे पर्याप्त नहीं मानता। वह जानता ही नहीं कि कुटिलता कैसे की जाती है। किन्तु जो कुटिलता को समझता है, फिर भी कुटिलता का आचरण नहीं करता, सरलतापूर्ण व्यवहार करता है। वह पूजनीय, आदरणीय और महान् व्यक्ति होता है। अज्ञानविहीन सरलता का विशेष महत्त्व होता है।

धोखा देना कोई बड़ी बात नहीं, ईमानदारी रखना बड़ी बात है। ईमानदारी जीवन में तभी रह सकती है, जब सरलता होती है। कई बार आदमी जैसे-तैसे दुष्कार्य करके कुछ पाने का प्रयत्न करता है। अध्यापक महोदय ने विद्यार्थी से गणित का एक प्रश्न पूछा—वत्स! तुम्हारे पिताजी की अनाज की दुकान है। मान लो कि एक रुपये में एक किलोग्राम गेहूं आते हैं तो दस रुपये में तुम्हारे पिताजी कितने किलोग्राम गेहूं देंगे? लड़के ने कुछ सोचा और फिर कहा—मेरे पिताजी लगभग साढ़े नौ किलोग्राम गेहूं देंगे। अध्यापक—क्या तुम्हारे पिताजी गणित नहीं जानते? विद्यार्थी—सर! मेरे पिताजी गणित जानते हैं, किन्तु आप मेरे पिताजी को नहीं जानते। वे जब दस किलोग्राम गेहूं तोलेंगे, तब आधा किलोग्राम की हेराफेरी तो आसानी से कर देंगे।

ऋजुता का अभ्यास होने से काय-ऋजुता निष्पन्न होती है। आदमी का शरीर टेढ़ा न रहे। वह सीधा बैठे। टेढ़ा बैठने से शारीरिक ऋजुता में कमी आ सकती है, यह तो सामान्य बात है। मूल बात है कि शरीर के द्वारा ऐसा कोई प्रयास न करना, जो किसी को धोखा देने वाला हो। शारीरिक संकेतों के माध्यम से भी किसी को धोखा दिया जा सकता है। जैसे कोई चीज है तो पूर्व दिशा में और इशारा कर दिया पश्चिम दिशा की ओर। यह गलत इशारा काय-ऋजुता में बाधक बन जाता है। जो जैसा है, उसे उसी रूप में प्रकट करना काय-ऋजुता है। काय-ऋजुता उस आदमी में हो सकती है जिसकी चेतना में ऋजुता आ जाती है। भाव-ऋजुता का मतलब है भावों में कुटिलता न आए। भावशुद्धि बनी रहे। भावशुद्धि तभी बनी रह सकती है, जब मन में सरलता हो, पवित्रता हो। जब मन में सरलता होगी, तब भाषा में भी ऋजुता आ सकेगी। फिर भाषा के द्वारा किसी को धोखा नहीं दिया जा सकेगा।

संसार में हम देखते हैं कि भाषा के द्वारा किस प्रकार वंचना की जा सकती है। शादी का प्रसंग था। लड़के और लड़की के पिता में परस्पर वार्तालाप चल रहा था। लड़की के पिता ने पूछा—आपका बेटा कितना पढ़ा हुआ है? क्या कार्य करता है? उसका स्वभाव कैसा है? लड़के का पिता बोला—मेरा बेटा सी. ए. है। अच्छी नौकरी है और स्वभाव तो उसका इतना अच्छा है कि सबको एक दृष्टि से देखता है। अब तुम्हारी लड़की के बारे में बताओ कि वह कितनी पढ़ी हुई है? गृहकार्य आदि करने में कितनी दक्ष है? लड़की के पिता ने कहा—मेरी बेटी एम. कॉम है और कार्य करने में तो इतनी श्रमशीला है कि दिन-रात एक पैर पर कार्य करती रहती है। दोनों ने तत्काल शादी का निर्णय कर लिया और जल्दी ही मुहूर्त्त निकलवा लिया। शादी के बाद रहस्य खुला कि जिस लड़के के लिए कहा गया था कि सबको एक दृष्टि से देखता है, वह लड़का काना था। उसके आंख एक ही थी और जिस लड़की के लिए कहा गया था कि दिन-रात एक पैर पर काम करती है, वह पंगु थी। उसके पैर एक ही था। यह वंचना है।

शास्त्रकार ने कहा कि जिसमें ऋजुता आ गई, वह भाषा के द्वारा छलना नहीं करेगा। उसकी भाषा में सचाई होगी, ऋजुता होगी। अन्तिम बात बताई गई कि ऋजुता से अविसंवादन योग निष्पन्न होता है। अविसंवादन का एक अर्थ यह किया जाता है कि किसी कार्य का संकल्प कर उसे करना, दूसरों को

न ठगना। दूसरा अर्थ यह किया जाता है कि कथनी-करनी में समानता रखना। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।।

जिसके मन में जो है, वही वाणी में है। जो वाणी में है, वही आचरण में है, वह महात्मा होता है। जिसके मन में कुछ है, वाणी में कुछ है, आचरण में कुछ और है यानी वाणी अलग है और आचरण अलग है, वह दुरात्मा होता है। यह कथनी-करनी की भिन्नता विसंवादन योग कहलाता है। जिसने ऋजुता का अभ्यास कर लिया, वह अविसंवादन योगी बन जाता है। उसकी कथनी-करनी में समानता रहती है और उसके प्रति विश्वास भी रहता है कि यह किसी को धोखा नहीं देगा। कोई व्यक्ति यदि बेईमानी करके लाखों करोड़ों रुपये कमा लेता है और कोई व्यक्ति ईमानदारी से पांच सौ रुपये ही कमाता है तो मेरी दृष्टि में गार्हस्थ्य धर्म के अनुसार करोड़ों कमाना कोई खास बात नहीं है, वनिस्पत पांच सौ रुपये कमाना महत्त्वपूर्ण है।

ईमानदारी एक बड़ी संपत्ति है। जो व्यक्ति करोड़ों के लिए इस बड़ी संपत्ति यानी ईमानदारी को खो देता है। उसके जीवन में ऋजुता का ह्रास होने लगता है। साधु में तो ऋजुता होनी ही चाहिए। एक धार्मिक गृहस्थ में या सद्‌गृहस्थ में भले पूर्णतया ऋजुता न भी रह सके, किन्तु काफी अंशों में रहनी चाहिए। यह ऋजुता का भाव कल्याणकारी सिद्ध हो सकेगा।

१८

मार्दव से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**मद्दवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! मार्दव से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ।** मार्दव से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु मार्दव से संपन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

मृदुता अहंकार का विलोम शब्द है। दसवेआलियं में कहा गया—**माणं मद्दवया जिणे** अहंकार को मृदुता से जीतना चाहिए। प्रतिपक्ष भावना के प्रयोग से शत्रु पक्ष का नाश किया जा सकता है। अहंकार का प्रतिपक्ष है मृदुता। आदमी मृदुता का अभ्यास करे, अनुप्रेक्षा करे जिससे अहंकार की चेतना कमजोर बन सके। जब अहंकार जागृत रहता है तो वह हमारे अन्तर्ज्ञान को आवृत्त कर देता है। जब अहंकार समाप्त हो जाता है तो परमानन्द जाग जाता है और व्यक्ति परमज्ञान की स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

मृदुता का अभ्यास करने से आदमी अनुद्धत बन जाता है। उसकी उद्दण्डता दूर हो जाती है। अहंकार और उद्दण्डता जुड़ी हुई चीजें हैं। आदमी में अहंकार है तो वह उद्दण्ड भी बन जाता है। सामान्यतया आंखों के न होने से आदमी अंधा कहलाता है किन्तु अहंकार से भी आदमी अंधा बन जाता है। एक तो जन्मान्ध होता है और दूसरा मदान्ध। जन्मान्ध व्यक्ति तो आंखों के सामने जो है उसको भी नहीं देख पाता और मदान्ध व्यक्ति जो नहीं है उसको

भी कई बार मान लेता है। मदान्ध व्यक्ति के पास ज्ञान बहुत ज्यादा नहीं है फिर भी वह अपने आपको बहुत ज्यादा विद्वान मान लेता है। अभिमान को मदिरापान के समान बताया गया है, जैसे मदिरापन से उन्माद आ जाता है, वैसे ही अभिमान से भी उन्माद आ जाता है। इसलिए आदमी मदान्धता से बचने का प्रयास करे।

अनुद्धत भाव वाला व्यक्ति मृदु-मार्दव भाव से संपन्न बन जाता है। बहुत ज्यादा मृदु भाव को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने मृदु-मार्दव शब्द का प्रयोग किया है। मंत्री मुनि श्री मगनलालजी स्वामी फरमाया करते थे कि हमारा जीव कितनी बार बेर की गुठली बन गया और कितने लोगों के पैरों के नीचे आ गया। फिर हम किस बात का अहंकार करें? यदि हम ज्ञान के क्षेत्र में देखें तो सबसे ज्यादा ज्ञानी तो केवलज्ञानी होते हैं। वे भले ही अहंकार कर सकते हैं कि मुझमें कितना ज्ञान है, किन्तु वे तो अहंकार करते नहीं हैं और जो अल्पज्ञानी हैं वे अपने ज्ञान का अहंकार कर लेते हैं। गुरुदेव तुलसी द्वारा विरचित 'पञ्चसूत्रम्' नामक ग्रंथ में कहा गया है—

ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः।
अगदो यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते।।

ज्ञान तो मद और दर्प का हरण करने वाला होता है। उससे भी कोई अहंकार करे तो उसके लिए वैद्य कौन होगा? दवा भी जिसके लिए विष का काम करे, उसका इलाज कैसे किया जाए? इस बारे में मेरा मंतव्य है कि ज्ञान मद का हरण कर सकता है पर कौनसा ज्ञान करेगा? एकमात्र अध्यात्मविद्या का ज्ञान मद का हरण कर सकता है। बाह्य विषयों का ज्ञान अहंकार को कम कर देगा, यह कोई आवश्यक नहीं होता। एक आदमी को भूगोल, खगोल और विज्ञान का ज्ञान है किन्तु वह अहंकार को छोड़ देगा, यह कहना मुश्किल है। हां, जिसने अध्यात्मविद्या का ज्ञान कर लिया, वह अवश्य ही अहंकार को कम कर लेगा। संस्कृत साहित्य का सुन्दर कथन है—

वेदान्यशास्त्रवित् क्लेशं, रसमध्यात्मशास्त्रवित्।
भाग्यभृद् भोगमाप्नोति, वहते चन्दनं खरः।।

अन्य शास्त्रों का ज्ञाता तो क्लेश को भोगता है और अध्यात्म-शास्त्र का ज्ञाता रस या आनन्द का अनुभव करता है। गधा तो चन्दन का भार ढ़ोता

है पर उसका भोग तो कोई सौभागी आदमी ही करता है। इसी प्रकार ज्ञान का भार तो कइयों के पास होता है किन्तु जो ज्ञान अहंकार को कम करने वाला है, ऐसा ज्ञान तो किसी किसी व्यक्ति को ही मिलता है। अन्य ज्ञान अहंकार को बढ़ाने में निमित्त बन सकता है जबकि अध्यात्मविद्या का ज्ञान अहंकार का नाश करने वाला और नम्रता की ओर ले जाने वाला होता है। शास्त्रकार ने कहा है कि जो आदमी उद्दण्डता को छोड़ चुका है वह मृदुमार्दव संपन्न बन जाता है और आठ प्रकार के मदस्थानों का नाश कर देता है। जैन वाङ्मय में अहंकार के आठ स्थान बताए गए हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य।

- जाति—मैं कितना उच्च जाति हूं।
- कुल—मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है।
- बल—मैं कितना शक्तिशाली हूं।
- रूप—मेरा रूप कितना सुन्दर है।
- तप—मैं कितना बड़ा तपस्वी हूं।
- श्रुत—मेरे पास कितनी बड़ी ज्ञानराशि है।
- लाभ—मैं कितना धनवान हूं।
- ऐश्वर्य—मेरे पास सत्ता है, अधिकार है।

अहंकार आदमी को लघुता की ओर ले जाता है। जैन कर्मवाद के अनुसार जो आदमी अहंकार करता है, उसका परिणाम यह आयेगा कि उसे इसी जन्म में अथवा अगले जन्म में छोटा बनना होगा अथवा किसी की अधीनता में रहना पड़ेगा। ठीक कहा गया है—**लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।** नम्रता आदमी को ऊंचा उठाने वाली होती है और अहंकार आदमी को नीचे ले जाता है। जो अहंकार को छोड़ेगा, वह बड़ा बनेगा और जो बड़प्पन दिखाएगा, वह छोटा बन जाएगा। इसलिए आदमी अहंकार और उद्दण्डता को छोड़कर शांत रहने का प्रयास करे। परिवार में माता-पिता आदि के साथ संतान उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करती है तो वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाती है और पाप कर्म का बंधन भी कर लेती है। गुरु या शिक्षक के साथ भी यदि विद्यार्थी उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करता है तो वह भी अपने कर्त्तव्य से च्युत

हो जाता है। एक कक्षा में कुछ विद्यार्थी बैठे थे। मास्टर साहब की अनुपस्थिति में एक छात्र ने श्यामपट्ट पर लिख दिया—मास्टरजी गधे। थोड़ी देर बाद मास्टरजी कक्षा में आए और श्यामपट्ट पर लिखा हुआ पढ़ा। सोचा, कुछ सीख देनी चाहिए। मास्टरजी ने आगे लिख दिया—को इन्सान बना देते हैं। पूरा वाक्य बन गया—मास्टरजी गधे को इन्सान बना देते हैं। उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार आदमी को न्यूनता की ओर ले जाने वाला होता है और अहंकार को छोड़ने से, उदारता रखने से, नम्रता का व्यवहार करने से इन्सान उच्चता की ओर प्रस्थान कर देता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

नमन्ति फलिनो वृक्षाः, नमन्ति गुणिनो जनाः।
शुष्कवृक्षाश्च मूर्खाश्च, न नमन्ति कदाचन।।

फलों से लदे हुए वृक्ष झुक जाते हैं। गुणवान लोग भी झुक जाते हैं किन्तु सूखे ठूंठ और मूर्ख व्यक्ति टूट सकते हैं पर झुकते नहीं हैं। हां, कठिनाइयों के सामने आदमी को नहीं झुकना चाहिए किन्तु पूज्यों के सामने अवश्य झुकना चाहिए। आदमी यह लक्ष्य बनाए कि मैं अहंकार-मुक्त बनूं और नम्रता का विकास करूं। इस दिशा में गतिमान व्यक्ति महानता संपन्न बन सकता है।

१९

भावसत्य से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**भावसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! भावसत्य से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहिए वट्टमाणे जीवे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए हवइ।** भावसत्य से जीव भाव विशोधि को उत्पन्न करता है। भाव विशोधि में वर्तमान जीव अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थान करता है। अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थित होकर परलोक धर्म की आराधना करने वाला बन जाता है।

साधु के सत्ताईस गुण बताए गए हैं। उनमें एक है—भावसत्य यानी भावधारा की निर्मलता। भावसत्य होने से भावों की शुद्धि हो जाती है। अध्यात्म की दृष्टि से विचार करें तो भाव-विशुद्धि से बड़ी कोई चीज नहीं है। आदमी शरीर से क्या करता है, वाणी से क्या बोलता है, ये सब ऊपरी बातें हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आदमी की भावना कैसी है? ऊपर से कठोर लगने वाला व्यक्ति यदि भीतर में शुद्ध है तो ऊपरी कठोरता कोई विशेष नुकसानदेह नहीं होती। जिसका हृदय निर्मल है, जो सज्जन है, हितैषी है, उसकी कड़ी बात भी कल्याणकारी हो सकती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

न भवति भवति च न चिरं, भवति चिरं चेत्फले विसंवादी।
कोपः सत्पुरुषाणां, तुल्यः स्नेहेन नीचानाम्।।

सज्जन आदमी कभी गुस्सा भी कर सकता है, कभी कड़ाई से भी कह सकता है। किन्तु उसके मन में वह गुस्सा या कड़ाई ज्यादा समय तक नहीं रहती है। उसकी कड़ी बात भी अच्छा फल देने वाली हो सकती है यानी सज्जन व्यक्तियों का तो गुस्सा भी अच्छा है, किन्तु दुर्जन व्यक्तियों का तो स्नेह भी खराब है। उनका स्नेह भी खतरनाक हो सकता है। जिसकी अन्तःचेतना में सचाई है, शुद्धता है, छलना या वंचना नहीं है, उसका भाव शुद्ध रहता है। भावशुद्धि रहेगी तो निश्चित कल्याण होगा। भाव अशुद्ध हैं तो ऊपर से भले कुछ भी कर लें, कल्याण नहीं हो सकता। आदमी यह ध्यान दे कि मेरे मन में कोई गलत विचार न आए, कोई विकार न आए। क्योंकि कहा गया है—**यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।**

जिसकी जैसी भावना होती है, उसके अनुसार निष्पत्ति, सिद्धि प्राप्त हो जाती है। एक आदमी ऊपर से मीठा बोलकर मधुर व्यवहार दिखाता है और भीतर में कपटाई रखता है तो वह मीठा बोलना या मधुर व्यवहार खतरनाक हो सकता है। जिस प्रकार एक गड्ढे के ऊपर बहुत सुन्दर जाजम बिछा दी जाती है। उस जाजम पर जैसे ही कोई आकर बैठता है, वह नीचे गिरता है। उसी प्रकार जिसकी भावना खराब है उसको अच्छा फल नहीं मिल सकता। आचार्य सोमप्रभसूरि ने सूक्ति मुक्तावली ग्रंथ में कहा है—

नीरागे तरुणीकटाक्षितमिव त्यागव्यपेतप्रभोः,
सेवाकष्टमिवोपरोपणमिवाम्भोजन्मनामश्मनि ।
विश्वग्वर्षमिवोषरक्षितितले दानार्हदर्चातपः,
स्वाध्यायाध्ययनादि निष्फलमनुष्ठानं विना भावनाम्।।

शुभ भावना के बिना दान, अर्हतों की अर्चना, तप, स्वाध्याय तथा अध्ययन आदि अनुष्ठान वैसे ही निष्फल होते हैं, जैसे रागरहित पुरुष के प्रति तरुणियों का कटाक्ष, कुछ पाने के लिए दानवियुक्त यानी कृपण स्वामी की सेवा का श्रम, पाषाण पर कमलों का उपरोपण, बंजरभूमि पर बरसने वाली वर्षा निष्फल होती है।

भावना अंक के समान है और अनुष्ठान शून्य के समान है। भावना के साथ अनुष्ठान किया जाए तो अच्छा फल मिलता है। अंक के आगे शून्य लगाने से संख्या बढ़ जाती है। केवल शून्य का कोई मूल्य नहीं होता। भावना

के बिना अनुष्ठान का विशेष फल नहीं होता। इसलिए भावना शुद्ध हो, यह प्रयास करना चाहिए। भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति वीतराग धर्म की साधना कर सकता है, आगे बढ़ सकता है और परलोक में भी धर्म की आराधना कर सकता है। शास्त्रकार के द्वारा बहुत सुन्दर बात कह दी गई कि भावशुद्धि के द्वारा व्यक्ति यहां तो धर्म की आराधना करता ही है, परलोक में भी उसके लिए धर्म की सुलभता हो सकती है। मेरा ऐसा मंतव्य है कि आदमी को भविष्य के बारे में भी चिंतन करना चाहिए। वर्तमान जीवन तो हमारा सीमित है। इस जीवन के बाद अनन्तकाल लम्बा हमारा भविष्य है। इसलिए आदमी का वर्तमान इतना सुंदर हो कि वर्तमान की सुन्दरता भविष्य को भी सुन्दर बना सके।

अध्यात्म की साधना में भावशुद्धि मूल कसौटी है। ऊपर से किसने क्या किया? यह बात गौण है किन्तु भीतर यानी भावों की बात मुख्य है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में सुन्दर कहा गया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक आदमी कर्मेन्द्रियों का ऊपर से संयम करता है किन्तु मन से विषय वासना चलती रहती है तो वह आदमी मिथ्याचारी है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

हे अर्जुन! जो व्यक्ति मन से अपनी इन्द्रियों का नियमन करता है, मन से शुद्ध हो जाता है, वह वास्तव में अनासक्त है, त्यागी है।

एक सन्त, जो भावों से भी अनासक्त रहता है और ऊपर से भी त्याग रखता है, वह वास्तव में संन्यासी है। अन्यथा वेश से संन्यासी हो सकता है, पर क्लेशों से तो वह वासनावासी बना हुआ रहता है। आदमी निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करता रहे कि मेरी भावना कैसी है? यह चिन्तन करता रहे कि दिन रात मेरे भाव शुद्ध रहे, भावों में कहीं विकार न आ जाए, गलत विचार न आ जाए। यदि इस बात का ध्यान रखा जाता है तो वह राजपथ तैयार है, जो सीधा मोक्ष तक ले जा सकता है। यदि भाव अशुद्ध हैं तो राजपथ की बात तो दूर, ऐसी संकड़ी गलियां हैं जो व्यक्ति को भटका

सकती हैं और मंजिल से बहुत दूर ले जा सकती हैं।

शास्त्रकार ने बहुत सुन्दर कहा कि भावसत्य के द्वारा भाव विशोधि प्राप्त होती है। भावशुद्धि में रहने वाला जीव अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थान कर परलोक में भी धर्म की आराधना करने वाला बन जाता है।

२०

करणसत्य से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया——**करणसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! करणसत्य से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया——**करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ।** करणसत्य से करणशक्ति को पैदा कर लेता है। करणसत्य में वर्तमान जीव यथावादी तथाकारी भी बन जाता है।

आदमी प्रवृत्ति करता है। उसमें भी सचाई रहे। जिस कार्य को करने की जो विधि है, उस सम्यक् विधि के अनुसार निष्ठापूर्वक कार्य किया जाता है, वह करणसत्य है। अविधि से अथवा गलत कार्य करने की अपेक्षा कई बार कार्य नहीं करना ज्यादा अच्छा होता है। अनेक लोग सामायिक की साधना करते हैं। यदि विधिपूर्वक सामायिक की जाए तो उसका अपना लाभ होता है। यदि विधि से न की जाए तो लाभ की अपेक्षा कई बार नुकसान भी हो सकता है। सामायिक लेने का पाठ ठीक तरह बोला जाए, अतिचारों की आलोचना अच्छी तरह की जाए। उस एक मुहूर्त्त के समय का सम्यक्तया उपयोग किया जाए। उसमें स्वाध्याय, ध्यान, जप, तत्त्वज्ञान, धर्मकथा आदि किया जाए तो सामायिक का अच्छा फल मिल सकता है।

घर परिग्रह से जुड़ा रहता है, इसलिए गार्हस्थ्य में कोई तीन योग से भी त्याग कर दे तो भी साधु जैसा त्यागी नहीं बन सकता। सामायिक छह कोटि, आठ कोटि और नव कोटि की भी हो सकती है। मात्र सामायिक ही नहीं, कोई

भी कार्य हो, चाहे सांसारिक हो या धार्मिक, सब विधिपूर्वक ही शोभित होते हैं। अविधि से किया जाने वाला कार्य अच्छा नहीं लगता। साधु के लिए समिति-गुप्ति का विधान है। वह चल सकता है, बोल सकता है, भोजन कर सकता है, नींद भी ले सकता है, किन्तु अपेक्षा है कि वह प्रत्येक कार्य को विधिपूर्वक करे।

आदमी के मन में कार्य करने की ललक होती है। यदि अवस्था छोटी हो और संभावित लम्बा भविष्य सामने हो तो आदमी कुछ विशेष करने का संकल्प करे और कुछ विशेष करने के लिए प्लानिंग भी बनाए। किसी भी कार्य को सम्यक्तया संपादित करने के लिए पहले योजना बनानी चाहिए। योजना-निर्माण भी अपने सामर्थ्य के अनुरूप करना चाहिए। योजनाएं यदि लम्बी-चौड़ी बना ली और पास में न व्यवस्था हो और न शक्ति हो तो वे योजनाएं धरी रह जाती हैं। इसलिए योजना बनाने में भावुक नहीं बनना चाहिए। यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर योजना बनानी चाहिए। आदमी सूझबूझ के साथ परिणामदायी कार्य को हाथ में लेता है तो वह उसमें सफल हो सकता है। करणसत्य से वह करणशक्ति को निष्पन्न कर लेता है। जो विधिपूर्वक कार्य करने का रुझान रखता है, उसमें कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है और अनुभव भी बढ़ जाते हैं। जो व्यक्ति किसी कार्य में पादन्यास ही नहीं करता, वह कैसे कार्य करेगा। जो व्यक्ति आठ-दस वर्षों से कार्य कर रहा है। उसके पास अनेक अनुभव होते हैं। कार्य करने के कई तरीके उसे ज्ञात हो सकते हैं और उसकी काम करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। कार्य करने वाले से कभी गलती भी हो सकती है, प्रमाद भी हो सकता है किन्तु आदमी घबराए नहीं और भूल का परिष्कार करे। गलती की पुनरावृत्ति न हो, इस संकल्प के साथ आगे बढ़े।

आदमी में मनोबल होना चाहिए, दृढ़ निश्चय होना चाहिए, आत्मविश्वास होना चाहिए। आत्मविश्वास के साथ कार्य किया जाता है तो करणशक्ति का सम्यग् उपयोग हो सकता है और करणशक्ति बढ़ भी सकती है। आदमी की करणशक्ति इतनी मजबूत हो कि वह किसी के बहकावे में न आए। दूसरों की बातों को सुना जा सकता है, किन्तु अपने विवेक से, अपने दिमाग से चिन्तन करे कि क्या गलत है और क्या ठीक है। मात्र दूसरों के कहने से आदमी अपने कार्यक्रम को बदल दे तो सफलता के आगे प्रश्नचिह्न

लग सकता है। अतः व्यक्ति अपने विवेक से कार्य करे और करणशक्ति को पुष्ट करने का प्रयास करे।

शास्त्रकार ने सुन्दर कहा कि करणसत्य में वर्तमान जीव यथावादी तथाकारी हो जाता है। वह जैसा कहता है, वैसा ही कार्य करता है। उसकी कथनी-करनी में संगति रहती है। जो व्यक्ति कहता कुछ है और करता कुछ है, वह करणसत्य से दूर हो जाता है। जहां कथनी-करनी में विसंगति हो जाती है, वहां आदमी अध्यात्म से भी दूर हो जाता है, नैतिकता से भी कुछ दूर हो जाता है। लोगों के मन में उसके प्रति अश्रद्धा और अविश्वास का भाव पैदा हो जाता है। इसलिए आदमी अपनी शक्ति को तोले कि मेरे भीतर कितनी शक्ति है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य को हाथ में ले। प्रामाणिकता से कार्य करने वाला व्यक्ति कार्य करने की शक्ति का विकास कर लेता है और यथावादी तथाकारी बन जाता है।

२१

योगसत्य से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**जोगसच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! योगसत्य से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।** योगसत्य से योग विशुद्ध बनता है।

जैन वाङ्मय में योग की अनेक परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। पतञ्जलि का अष्टांग योग प्रसिद्ध है। मेरी दृष्टि के अनुसार पातञ्जल योगदर्शन का अष्टांग योग अपने आपमें काफी परिपूर्ण है। उसमें सुन्दर समावेश किया गया है। वहां आचार शुद्धि का भी उल्लेख है और प्रायोगिक साधना का भी निर्देश है। शरीर की दृष्टि से जहां आसन आदि का महत्त्व है तो अध्यात्म की उच्च भूमिका की दृष्टि से धारणा, ध्यान, समाधि आदि का भी निर्देश प्राप्त होता है। इन्द्रिय संयम के लिए प्रत्याहार का निर्देश है। कुल मिलाकर एक सुन्दर समवाय बन जाता है।

जैनदर्शन में योग शब्द को मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। चंचलता योग है। जहां निवृत्ति है वहां अयोग है। जहां प्रवृत्ति है वहां योग है। शास्त्रकार ने जो प्रश्न किया है, वह इसी योग के संदर्भ में है। हमारा मन सम्यक्तया प्रवृत्त हो, हमारा वचन सम्यक्तया प्रवृत्त हो, हमारा शरीर सम्यक् चेष्टाएं करे, इस प्रकार का अभ्यास करने से योग निर्मल बन जाएंगे, विशुद्ध बन जाएंगे।

मन में अशुभ विचार आता है तो हमारा मन मलिन बन जाता है। वाणी

के साथ यदि कषाय जुड़ जाता है, गुस्से में आकर अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करना, जान-बूझकर झूठ बोलना, किसी को बदनाम करना, इस प्रकार के प्रयोग से वचन मलिन बन जाता है। शरीर के द्वारा किसी को कष्ट देना, तकलीफ देना, प्रमाद करना, भोगासक्त प्रवृत्ति करना शरीर का अशुद्ध योग है। मन, वचन और शरीर की शुभ प्रवृत्ति करने से परिणाम यह आएगा कि हमारे योग निर्मल बन जाएंगे। योग विशुद्ध बन जाते हैं तो एक बड़ी साधना हो जाती है। यों तो अयोग अवस्था को प्राप्त करना साधक का परम लक्ष्य होता है। अयोग की साधना नहीं है तो योग शुद्ध नहीं होगा। जैन वाङ्मय में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है समिति और गुप्ति। समिति जहां सम्यक् योग है, वहां गुप्ति योग निरोध है। अशुभ प्रवृत्ति से, अशुभ विषयों से, अशुभ योगों से अपने आपको बचा लेना गुप्ति है। अगर हमें योगसत्य को प्राप्त करना है तो गुप्ति की साधना अनिवार्य है। उसके बिना योगसत्य हो नहीं सकता। योग सत्य के बिना योगों की विशुद्धि भी हो नहीं सकती। साधक यह ध्यान रखे कि मेरे द्वारा अशुद्ध योगों का प्रवर्तन न हो जाए। योगों में भी विशेष रूप से मनयोग अशुभ न हो जाए, इस बात के प्रति जागरूक रहे। एक आदमी जीवनभर मनयोग को अशुभ नहीं होने देता है तो मेरा निश्चित मत है कि उसका बेड़ा पार हो जाएगा। वह कभी डूब नहीं सकता। एक मन ही आदमी के बन्धन और मुक्ति का कारण बनता है। अगर आदमी का मन शुभ है तो गहरा बन्धन नहीं होगा।

जैनदर्शन में दो प्रकार के बंध बताए गए हैं—ईर्यापथिक बंध और साम्परायिक बंध। ईर्यापथिक बंध मात्र वीतराग के होता है। यह बंध बहुत हल्का होता है। लम्बे समय तक टिकने वाले कर्म का बंध नहीं होता और आदमी को डुबोने वाला नहीं होता। हमें ध्यान देना चाहिए कि हमारा मन सत्य बना रहे, मानसिकता विशुद्ध बनी रहे। मन की सत्यता के साथ मोहकर्म का विलय हो। मोहकर्म यदि हल्का होता है या अलग होता है तो मनोयोग विशुद्ध बन जाता है और मोहकर्म मन पर हावी-प्रभावी हो जाता है तो मनोयोग मलिन बन जाता है। इसलिए मोहकर्म दूर रहे, प्रभावी न हो।

हम लोग जनता को प्रेरणा देते हैं कि नशा मत करो, लड़ाई-झगड़ा मत करो, गुस्सा मत करो, अहंकार मत करो आदि। इन सारी बातों का सार यही है कि योग शुद्ध बने रहें। योग शुद्ध रहेंगे तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। मेरा

मंतव्य है कि आज भी संत-महात्मा लोग जनता के उद्धार में अपना योगदान दे रहे हैं। वे अपने संभाषण के द्वारा लोगों को समझाते हैं और गलत कार्यों से निवारित करने का प्रयास करते हैं। उसका कुछ फल भी आ रहा है। आज भी जनता में भलाई जिन्दा रह सके और बुराइयों को ज्यादा सशक्त बनने का मौका न मिले, ऐसा प्रयास किया जा रहा है। सबसे बड़ी बात है कि आदमी अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयास करे। योगसत्य के द्वारा एक ऐसी शक्ति का जागरण किया जा सकता है जो हमारे योगों को विशुद्ध बना सकती है और परम शांति प्राप्त हो जाए, ऐसी भूमिका तैयार कर सकती है। हमारे योग निर्मल बनें, इसके लिए अपेक्षा है कि हमारा राग-द्वेष का भाव शांत हो। जहां-जहां राग-द्वेष का प्राबल्य होगा, वहां-वहां हम योगसत्य से दूर चले जाएंगे और जितना-जितना राग-द्वेष शांत होगा, उतने-उतने हम ऊपर उठ जाएंगे।

आदमी के सामने समस्याएं आती हैं। वह कई बार घबरा जाता है, तनावग्रस्त हो जाता है। हम तनावग्रस्त न बनें, समस्या को देखना सीख जाएं, शांतभाव से उसे समझने का प्रयास करें और उसका हल खोजें। समस्या से कभी निराश न बनें, दुःखी न बनें। इस तथ्य को एक अध्यापक ने अपने विद्यार्थियों को प्रायोगिक उदाहरण से समझाने का प्रयास किया। अध्यापक महोदय ने पानी से भरा हुआ एक गिलास हाथ में लिया और विद्यार्थियों से पूछा—प्यारे विद्यार्थियो! यह गिलास मेरे हाथ में है। इसे मैं थोड़ी देर अपने हाथ में रखूं तो क्या होगा?

विद्यार्थी—पांच-दस मिनट गिलास को हाथ में रखने से कोई खास तकलीफ नहीं होगी।

अध्यापक—अगर दो-ढ़ाई घण्टे गिलास को हाथ में रखूं तो क्या होगा?

विद्यार्थी—सर! आपका हाथ दर्द करने लग जाएगा और भी कई कष्ट हो सकते हैं।

अध्यापक—यदि मैं दिनभर इस गिलास को हाथ में रखूं तो क्या होगा?

विद्यार्थी—सर! आपके लिए एम्बुलेन्स मंगानी पड़ेगी और आपको अस्पताल में भर्ती कराना पड़ेगा।

अध्यापक—यदि मैं थोड़ी देर बाद गिलास को नीचे रख दूं तो क्या होगा?

विद्यार्थी—सर! आपको आराम मिल जाएगा।

अध्यापक—विद्यार्थियो! हमारे जीवन में भी यदा-कदा समस्याएं आ सकती हैं। यदि हम दिनभर समस्याओं के बोझ को दिमाग में रखेंगे तो हमारा स्वास्थ्य खराब हो जाएगा, तनाव होगा और अनेक बीमारियों को पैदा होने का मौका मिल जाएगा। यदि हम थोड़ी देर समस्याओं को दिमाग में रखें, उन्हें समझें और समाधान करने का प्रयास करें और दिमाग को हल्का कर लें तो हमारा दिमाग ठीक रहेगा और स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा। इसी प्रकार हमारे भीतर राग-द्वेष के भाव ज्यादा रहेंगे तो हमारे योग अशुद्ध बन जाएंगे। हम योगसत्य से दूर चले जाएंगे। कई बार आदमी अपने चिन्तन के द्वारा दुःखी बन जाता है और चिन्तन के द्वारा सुखी बन जाता है। इसलिए राग-द्वेष मुक्त रहकर चिन्तन करे। योगसत्य को बनाए रखने के लिए अपेक्षा है कि राग-द्वेष के भावों से मुक्त रहें। फिर हम बिलकुल मुक्त बन जाएंगे, हल्के हो जाएंगे, मनः प्रसत्ति प्राप्त हो जाएगी और हमें बड़ा आराम मिलेगा।

२२

मनोगुप्तता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**मणगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! मनोगुप्तता से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।** मनोगुप्तता से जीव एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रचित्त वाला जीव अशुभ संकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और संयम की आराधना करने वाला होता है।

तीन गुप्तियां हैं—मनोगुप्ति, वाक्‌गुप्ति और कायगुप्ति। मनोगुप्ति को प्राप्त करना साधना साध्य है। आदमी का मन बड़ा चंचल है। उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन में कहा गया—**मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ** यह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है, वह मन है। घोड़ा विनीत हो, सत्पथ पर चलने वाला हो, अंकुश में हो तो आदमी को गंतव्य की ओर ले जा सकता है। घोड़ा अविनीत हो, निर्देशानुसार चलने वाला न हो तो पता नहीं वह आदमी को कहां ले जाएगा। घोड़े पर बैठने वाला व्यक्ति इतना कुशल हो और घोड़े की देखभाल इस प्रकार से की जाए कि घोड़ा अपना बन जाए, सुसंस्कृत बन जाए और अपने सवार को ठीक मार्ग पर ले जाए। मन की दोनों स्थितियां हैं। इसे शिष्ट अश्व के रूप में भी देखा जा सकता है और दुष्ट अश्व के रूप में भी देखा जा सकता है। इसका उजला पक्ष भी है और अंधेर पक्ष भी है। अंधेर पक्ष के अंतर्गत मन को लोभी, लालची

और चोर कहा गया है। मन में अनेक प्रकार के विचार आते हैं। मन की विकृति के कारण आदमी गलत काम भी कर लेता है। मन के उजले पक्ष की ओर ध्यान दें तो ज्ञात होता है कि मन से कितने अच्छे विचार किए जाते हैं। कितनी सुन्दर कल्पनाएं की जाती हैं। उन कल्पनाओं के आधार पर और बौद्धिक ज्ञान के आधार पर कई बार कितनी सुन्दर कविताओं का निर्माण हो जाता है। मन के द्वारा हम प्रभु का स्मरण करते हैं, ध्यान लगाते हैं। मन से हम अपने प्रति और दूसरों के प्रति मंगलकामना करते हैं। दूसरों का भला करने का विचार करते हैं। ज्ञान के गूढ़ रहस्यों को जानने का प्रयास किया जाता है। दर्शन की गहराई में जाते हैं। वह सारा मन का उजला पक्ष है। मन से असंयम भी हो सकता है और मन से संयम भी किया जा सकता है। मन के असंयम को नियंत्रण में रखना चाहिए अथवा असंयम से बचना चाहिए ताकि मन असत् विचार और असत् कल्पना में न जाए। हमारा मन पवित्र विचार वाला बने। मनोगुप्ति सत् है। जहां असत् है वहां मनोगुप्ति का अभाव है।

मन चंचल है। मन को चंचल बनाने वाला कोई भीतर बैठा है। पंखा चलता है, ताड़ियां घूमती है। वह एक यंत्र है। ताड़ियों को घुमाने वाली विद्युत् है, ऊर्जा है। जैसे ही ऊर्जा का स्विच ऑफ कर दिया जाता है, ताड़ियां घूमनी बंद हो जाती है। हमारे मन को भी पंखे की भांति घुमाया जाता है। राग-द्वेष नामक तत्त्व मन के भीतर बैठे-बैठे मन रूपी पंखे की ताड़ियों को घुमाते रहते हैं। पंखे का स्विच ऑफ करने से वह बन्द हो जाता है किन्तु मन रूपी पंखे का स्विच ऑफ करना सबके लिए आसान नहीं है। पंखे का अपना लाभ है। गर्मी का समय हो और पंखा चले तो कितनी राहत मिलती है। वही पंखा यदि सर्दी की मौसम में चलने लग जाए तो तकलीफ देने वाला हो सकता है। मन का पंखा भी समय पर चले तो ठीक है। यदि वह असमय में चलने लग जाए तो तकलीफ देने वाला हो सकता है। इसलिए राग-द्वेष के भावों पर नियंत्रण हो जाए तो फिर मन का पंखा उस रूप में कष्टकारी नहीं रहेगा। जिस प्रकार पंखे से हवा कब लेना और कब नहीं लेना यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है। उसी प्रकार मन का प्रयोग कब करना और कब नहीं करना, यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है।

एक बछड़ा यदि खूंटे से बंधा हुआ नहीं है तो वह इधर-उधर कहीं भी जा सकता है। उसे किसी खूंटे से बांध दिया जाए तो वह कूदफांद तो कर

सकता है पर करेगा खूंटे के आसपास ही, ज्यादा दूर नहीं जा पाएगा। हम अपने मन को प्रभु के साथ बांध दें। अपने इष्ट के साथ बांध दें। भगवान के नाम के साथ बांध दे ताकि हमारा मन प्रभु के आसपास ही रहे, इधर-उधर न दौड़े। एक व्यक्ति ने मंत्र के द्वारा एक भूत को अपने वश में कर लिया। ज्योंही उसको याद किया, भूत हाजिर हो गया और बोला—कहो, क्या काम करना है?

व्यक्ति—बाजार से मुझे अमुक सामान लाकर दो।

भूत ने तत्काल वह काम संपन्न कर दिया। फिर पूछा—अब मुझे कौनसा काम करना है? उस व्यक्ति ने कई काम बताए। भूत ने तत्काल वे कार्य संपन्न कर दिए। फिर पूछा—अब क्या करूं? व्यक्ति ने कहा—अभी तो सारे कार्य हो गए हैं। भूत ने कहा—मुझे काम बताओ वरना तुम्हें मौत की घाट उतार दूंगा। मंत्रसिद्ध व्यक्ति ने तत्काल दो लकड़ियां मंगाई। उन्हें जमीन में लगा दी और भूत से कहा—जब तक मैं अन्य काम न बताऊं तब तक तुम इस पहली लकड़ी से ऊपर चढ़ो और दूसरी लकड़ी से नीचे उतरो। फिर दूसरी लकड़ी से ऊपर चढ़ो और पहली लकड़ी से नीचे उतरो। यह क्रम तब तक चलता रहे जब तक तुम्हें कोई नया निर्देश न मिले।

हमारा मन भी एक प्रकार का भूत है। हम इसे कोई अच्छा काम सौंप दें ताकि वह काम में लगा रहे अन्यथा वह हमें परेशान करने वाला भी बन सकता है। योगविद्या का एक प्रयोग है—समवृत्ति श्वासप्रेक्षा। बाएं नथूने से श्वास लो और दाएं नथूने से श्वास छोड़ो। फिर दाएं नथूने से श्वास लो और बाएं नथूने से श्वास छोड़ो। इसे अनुलोम-विलोम श्वासप्रेक्षा का प्रयोग भी कहा जाता है। जैसे भूत को दो लकड़ियों पर चढ़ने उतरने का काम सौंपा गया। वैसे ही मन को श्वास के साथ जोड़ दें तो मन की चंचलता कम हो सकती है और मनोगुप्ति का अभ्यास हो सकता है।

हमारा मन किसी एक आलम्बन पर एकाग्र बने। किन्तु साथ में पवित्रता का योग आवश्यक है। पवित्रता शून्य एकाग्रता अच्छी नहीं होती। जैसे—कोई व्यक्ति क्रिकेट खेल रहा है। उसका ध्यान क्रिकेट में लगा हुआ है। वहां भी एकाग्रता हो सकती है। किन्तु वह एकाग्रता अध्यात्म से जुड़ी हुई नहीं है। कोई व्यक्ति स्त्री का रूप देखने में एकाग्र हो गया। पर वह एकाग्रता पतन की ओर

ले जाने वाली है, अध्यात्म की दिशा में आगे बढ़ाने वाली नहीं है। एक व्यक्ति द्यूतक्रीड़ा करता है। उसमें भी मन एकाग्र हो जाता है किन्तु वह एकाग्रता भी उत्थान की ओर ले जाने वाली नहीं होती। ध्यान के चार प्रकार बताए गए हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। इनमें प्रथम दो ध्यान अशुभ हैं और अंतिम दो ध्यान शुभ हैं। आदमी की एकाग्रता तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में भी हो सकती है। किन्तु वह आध्यात्मिक नहीं होती, पापमयी होती है। इसलिए वह एकाग्रता होने पर भी अधोगति की ओर ले जाने वाली होती है। जबकि पवित्र एकाग्रता आदमी को ऊर्ध्वगामी बनाने वाली होती है।

सूत्रकार ने ठीक कहा कि मनोगुप्ति की साधना करने वाला संयम की आराधना करने वाला होता है। मनोगुप्ति के बिना संयम की आराधना नहीं हो सकती। परम पूज्य आचार्यप्रवर जीवन के ग्यारहवें वर्ष में संत बन गए थे। यदि मनोगुप्ति नहीं होती, मन का संयम नहीं होता तो क्या संन्यास का जीवन जीना संभव हो सकता था? मनोगुप्ति के कारण साधना में आगे बढ़ा जा सकता है। एक गृहस्थ के लिए भी मनोगुप्ति की साधना जरूरी है। अगर मनोगुप्ति नहीं है तो अनेक संकल्प विकल्प उठ सकते हैं। आदमी सोचता है कि मुझे अमुक अमुक चीजें खानी है, अमुक कार्य करना है। किन्तु जब कुछ अंशों में मनोगुप्ति होती है तो आदमी सोचता है कि अमुक चीज मेरे स्वास्थ्य व साधना के अनुकूल नहीं है इसलिए नहीं खानी है। अमुक कार्य मेरे लिए हितकर नहीं है इसलिए मुझे यह कार्य नहीं करना है। मनोगुप्ति की साधना से आदमी संयम की आराधना कर लेता है।

अध्यात्म की साधना का सार है मनोगुप्ति की साधना करना। मनोगुप्ति को साध लेने के बाद वचनगुप्ति और कायगुप्ति को साधना आसान हो जाता है। साधक मनोगुप्ति की साधना करे। मनोगुप्ति का अभ्यास कल्याणकारी सिद्ध हो सकेगा।

२३

वाग्गुप्तता से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**वइगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ ?** भंते! वचन-गुप्तता से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**वइगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ। निव्वियारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ।** वाग्-गुप्तता से वह निर्विचार भाव को प्राप्त होता है। निर्विचार जीव सर्वथा वाग्-गुप्त और अध्यात्म-योग के साधन—चित्त की एकाग्रता आदि से युक्त हो जाता है।

आदमी के पास भाषा लब्धि होती है। दुनिया में अनन्त प्राणी ऐसे हैं, जो बोल नहीं सकते, जिन्हें भाषा प्राप्त भी नहीं होती है। स्थावर जीव—पृथ्वी, पानी आदि जीवों को भाषा प्राप्त नहीं होती है। उनसे थोड़े विकसित जीव हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जैसे—लट, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों में कुछ आवाज होती है किन्तु प्रायः हमारे लिए अस्पष्ट आवाज होती है। पशुओं की भी अपनी आवाज होती है। कोई विशेषज्ञ व्यक्ति ही उनकी आवाज के अर्थ को पकड़ सकता है। सारे मनुष्यों की भाषा को सारे मनुष्य भी नहीं जानते। पूरे विश्व में कितनी भाषाएं हैं। आदमी सीमित भाषा को ही समझता है और सीमित भाषाओं को ही बोल सकता है। मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि मुझे भाषा प्राप्त है। मैं बोल सकता हूं तो मैं अपनी वाणी का दुरुपयोग नहीं करूंगा। कितने पुण्य के योग से मुझे वाणी मिली है तो उसका मैं पाप में प्रयोग नहीं करूं, हिंसा में प्रयोग नहीं करूं, किसी

का बुरा हो, ऐसी बात कहने में अपनी भाषा का प्रयोग नहीं करूं।

भाषा विचार संप्रेषण का सशक्त माध्यम है। हम अपने विचारों को भाषा के माध्यम से दूसरों तक पहुंचाते हैं। संकेत से कुछ विचार विनिमय हो सकता है, परंतु सशक्त माध्यम भाषा है। चाहे वह बोलने के रूप में हो, चाहे लेखन के रूप में हो। अक्षरों को चाहे बोल दें, चाहें लिख दें। बात मूलतः एक ही है। अन्तर तरीके का है। एक भाषा को वाणी के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। एक भाषा को लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। हमारी भाषा कलात्मक बने। हम वाक्-निपुण बनें, वाक्-संयमी भी बनें। धार्मिक परम्परा में मौन का भी प्रयोग चलता है। अनेक-अनेक लोग मौन करते हैं। एक घण्टा, दो घण्टा, इस प्रकार प्रतिदिन मौन का अभ्यास करते हैं। वह भी वाणी संयम का प्रयोग है। मौन नींद में नहीं करना चाहिए, जागते हुए करना चाहिए। कई बार आदमी अकेला ही नींद में बोलने लग जाता है। नींद का मौन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना जागृत अवस्था का मौन होता है। अनावश्यक न बोलना भी एक प्रकार का मौन है। कुछ समय का मौन करना अच्छा है। उसके सिवाय अनावश्यक नहीं बोलने का अभ्यास करना चाहिए।

संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**गरौ गिरः पल्लवनार्थलाघवे।** वाणी के दो दोष बताए गए हैं। पहला दोष है कि बात को बढ़ा-चढ़ा कर बताना। जो बात संक्षेप में कही जा सकती है उसे खूब विस्तार से बताना। यह वाणी का पहला विष या दोष है। दूसरा दोष है—निस्सार बात बोलना। बहुत बोलने पर भी कई बार बात में सार कुछ भी नहीं निकलता है। बात को अनावश्यक कहना भी वाणी का विष है। वाणी के दो गुण भी हैं। वे इनके ठीक विपरीत हैं—परिमित बोलना और सारपूर्ण बोलना। आदमी वाणी के दोषों का परित्याग करे और वाणी के गुणों को अंगीकार करे। आदमी यह सोचे कि अमुक बात को मैं कितने कम शब्दों में कह सकता हूं। जो बात पांच वाक्यों में कही जाने वाली है। क्या मैं उस बात को तीन वाक्यों में कह सकता हूं। ताकि सुनने वाले का भी समय बेकार न हो और मुझे भी बिना मतलब बोलने का श्रम न करना पड़े। एक वक्ता एक घण्टा बोल सकता है किंतु यह भी अभ्यास रखे कि एक घण्टा की बात को अगर समय कम हो तो १०-१५ मिनिट में भी कितनी सारपूर्ण बात प्रस्तुत की जा सकती है।

आदमी को अपनी वाणी से सत्य बात कहनी चाहिए। जिस बात का पूरा

पता न हो, पूरी जानकारी न हो, उस बात को नहीं कहनी चाहिए। पहले बात की खोज करे, फिर कोई बात कहे अथवा यह कह दे कि मुझे पूरा पता नहीं है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है। उसका विश्वास भी बढ़ता है। जो आदमी बात-बात में झूठ का प्रयोग करता है। उसका विश्वास कम हो जाता है। गृहस्थ जीवन में सच्चाई का परिपूर्ण पालन करना सबके लिए संभव न भी हो किंतु एक साधु के लिए तो सत्य भाषा का प्रयोग करना आसान है। साधुओं को न तो व्यापार करना, न टैक्स चुकाना। गृहस्थ लोग जो व्यापार-धंधा करते हैं। उन्हें कितनी-कितनी स्थितियों से गुजरना पड़ता है और कहीं-कहीं झूठ का सहारा भी लेना पड़ता है। परन्तु आदमी का दृढ़-संकल्प हो तो काफी अंशों में गार्हस्थ्य में भी झूठ से बचा जा सकता है। कुछ कठिनाई आए तो आए। जीवन में कुछ कठिनाइयों को झेलना भी चाहिए। अच्छी बात के लिए, कुछ विशेष पाने के लिए कुछ कठिनाइयों को झेलने का उत्साह होना चाहिए।

धन सम्पत्ति है तो सच्चाई भी एक बड़ी सम्पत्ति है। आदमी पैसे की सम्पत्ति के लिए सच्चाई की सम्पत्ति को बिल्कुल छोड़ दे, इसका मतलब एक छोटी सम्पत्ति पाने के लिए बड़ी सम्पत्ति को छोड़ दिया। इसे मन की दुर्बलता कहा जा सकता है।

आदमी बोलने से पहले सोचे, विचार करे फिर वाणी का प्रयोग करे। बिना सोचे समझे, बिना विचारे कुछ भी कह दिया जाता है तो लेने से देना पड़ सकता है इसलिए सोच विचार करके कोई बात प्रस्तुत करनी चाहिए। हिताहित का पहले विवेचन कर लेना चाहिए। जैन वाङ्मय में एक छोटी सी कहानी आती है—एक व्यक्ति पर-स्त्री के साथ मैथुन सेवन कर रहा था। किसी साधु ने उसे देख लिया। संयोग की बात, उस युवक ने भी यह देख लिया कि साधु ने मुझे देखा है। वह लज्जित हुआ और सोचने लगा कि साधु किसी दूसरे को कह देगा। मुझे बदनाम कर देगा। इसलिए मैं उसे मार डालूं। युवक ने आगे जाकर मार्ग रोका और साधु से पूछा—अभी तुमने क्या देखा? साधु बड़ा संयमी था। उसने कहा—

बहुं सुणेहिं कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरिहइ।।

कानों से बहुत सुना जाता है, आंखों से बहुत देखा जाता है किन्तु सब

देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं है।

युवक ने यह बात सुनी। तब उसे विश्वास हो गया कि यह साधु मुझे बदनाम नहीं करेगा। इसमें वाणी का संयम है, विवेक है। वह साधु के चरणों में गिर गया और कहा—आप महान हैं। मेरे मन में आपको मारने की बात आ गयी थी। उसके लिए मैं आपसे क्षमायाचना करता हूं। आदमी को विचारपूर्वक बात कहनी चाहिए। हर कहीं हर कोई बात नहीं कहनी चाहिए।

वाणी संयम से निर्विचारता निष्पन्न होती है। हम बेकार की बातें करेंगे तो विकार उत्पन्न होने की संभावना पुष्ट हो जाएगी। हम वाणी का जितना संयम करेंगे उतनी ही समस्याओं से बच जाएंगे और विकार को पैदा करने की एक स्थिति का निरोध भी कर सकेंगे। हम जितना ज्यादा बोलते हैं उतना ही चंचलता को बढ़ावा देते हैं। जो लोग ध्यान की साधना करना चाहते हैं उन्हें मौन और वाणी संयम का भी अभ्यास करना चाहिए। वाणी संयम नहीं है तो ध्यान की साधना में भी कुछ बाधा उत्पन्न हो सकती है। हम जितना कम बोलेंगे उतना ही शांति और निर्विचारता की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे और चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर सकेंगे।

२४

कायगुप्तता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! कायगुप्तता से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ।** कायगुप्तता से जीव संवर को निष्पन्न करता है। संवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त करने वाला पाप-आश्रवों का निरोध कर देता है।

तीन गुप्तियों में तीसरी गुप्ति है कायगुप्ति। हमारे शरीर में चंचलता रहती है। पूरा तंत्र अपने ढंग से काम करता है। पाचन तंत्र अपना काम करता है। हृदय अपना काम करता है। इस प्रकार अनेक तंत्र अपना काम करते हैं। दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं—स्वसंचालित और स्वयं संचालित। शरीर के भीतर क्रियाएं चलती रहती हैं। जिनका हमें कई बार पता तक नहीं चलता। हम अपने काम में संलग्न रहते हैं और भीतर कार्य होता रहता है। वे स्व संचालित क्रियाएं हैं। जो क्रिया हमारे द्वारा स्वेच्छा से संचालित होती है, जैसे—हाथ हिलाना, पैर हिलाना आदि स्वयं संचालित क्रियाएं कहलाती हैं। कायगुप्ति के दो प्रयोग हैं—

- अकुशल कार्य का निरोध करना। शरीर से अशुभ प्रवृत्ति न करना।
- शरीर को स्थिर करना। हलन-चलन न करना।

प्रेक्षाध्यान साधना में कायगुप्ति का प्रयोग कराया जाता है। हम दिनभर

में कितनी प्रवृत्तियां करते हैं। कुछ देर के लिए विश्राम के रूप में कायगुप्ति का प्रयोग एक सुन्दर प्रयोग है। जब कायोत्सर्ग करते हैं तो उसमें कायगुप्ति सहज हो जाती है। तपस्या में भी कायगुप्ति हो जाती है, जैसे—खान-पान न करना भी कायगुप्ति है। हम शरीर से जो प्रवृत्तियां करते हैं उनमें मुख्यतया तीन प्रवृत्तियां होती हैं—

- गमन संबंधी प्रवृत्ति—घूमना-फिरना या चलना गमन रूप प्रवृत्ति है।
- भोजन संबंधी प्रवृत्ति—खाना-पीना या भोजन बनाने संबंधी प्रवृत्ति।
- हाथ संबंधी प्रवृत्ति—हाथ से किए जाने वाले कार्य संबंधी प्रवृत्ति।

इनके अतिरिक्त भी कुछ छोटी-मोटी प्रवृत्तियां हो सकती हैं। शरीर की इन प्रवृत्तियों पर ध्यान दें। गमन में संयम, खान-पान में संयम और हाथ से की जाने वाली क्रिया में भी संयम रहे तो कायगुप्ति सिद्ध हो सकेगी।

हालांकि हम चलते हैं, घूमते हैं। चलना आवश्यक भी है। घूमना स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक है। मेरा मंतव्य है कि शरीर बीमार है या स्वस्थ है, प्रतिदिन प्रातःकाल ४५ मिनिट भ्रमण हो जाए। यदि हरियाली या पेड़ों का योग मिल जाए और हरियाली के आसपास भ्रमण किया जाए तो शुद्ध हवा मिलेगी और अच्छी मात्रा में ऑक्सीजन मिलेगी। यद्यपि हरियाली पर चलने से बचाव करना चाहिए ताकि उन जीवों की हिंसा न हो। चलते समय नीचे देख देखकर चले। साधु के लिए तो ईर्या समिति का विधान है ही। गृहस्थ भी नीचे देखकर चले तो हिंसा से बच सकता है। अगर हमारे गमन में ईर्यासमिति का योग है तो जो जीव पैर के नीचे आकर मर सकते थे। उन जीवों की हिंसा से हमारा बचाव हो जाएगा। चलते समय दीर्घश्वास का प्रयोग किया जाए तो शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा रह सकेगा। कायगुप्ति में आवश्यक गमन रोकने की बात नहीं है। अनावश्यक क्रिया को रोके, अकुशल और अशुभ रूप में होने वाली क्रिया को रोके।

खान-पान में संयम रहे। हम अतिमात्रा में न खाएं। हमारा खाने में संयम है या नहीं? ऊनोदरी का अभ्यास है या नहीं? ऊनोदरी करने से कायगुप्ति का प्रयोग हो जाता है। यदि हमें मन के अनुकूल भोजन मिल गया और खूब खुश होकर उसकी प्रशंसा करते-करते खा रहे हैं अथवा मन के प्रतिकूल भोजन मिल गया और उसकी निन्दा करते-करते खा रहे हैं तो यह

हमारा असंयम हो जाता है। हम भोजन करते समय समता रखें। जैसा मिल गया उसमें समभाव रखें, राग-द्वेष न करें। भोजन करते समय हमारा ध्यान अन्य बातों में न जाए, मात्र खाने में ही केन्द्रित रहे। यह भी हमारी एक साधना हो जाती है।

आदमी हाथ से कितना काम करता है। हाथ से लेखन भी होता है। हाथ से वस्त्र-प्रक्षालन भी किया जाता है। हाथ से किसी को मारा-पीटा भी जा सकता है और हाथ से किसी की सेवा भी की जा सकती है। हाथों से अनेक काम किए जा सकते हैं। हम हाथों का संयम रखें। हम इस बात के प्रति जागरूक रहें कि हमारे हाथों से अकुशल प्रवृत्ति न हो जाए। प्रवृत्ति करें तो कुशल प्रवृत्ति करें, शुभ प्रवृत्ति करें। हम अपने हाथों से किसी को तकलीफ न दें। हम रास्ते में चलते हैं। कोई जानवर एक तरफ शांति से बैठा है। हम उसकी शांति में बाधा उत्पन्न करने का प्रयास न करें। बिना मतलब उसको न छेड़ें। उसे लाठी आदि दिखाकर अनावश्यक भय पैदा न करें। हमारे द्वारा किसी को कष्ट हो, अनावश्यक हिंसा हो, ऐसी प्रवृत्ति से बचना चाहिए। कायगुप्ति का साधक गमन का संयम करे, खान-पान में संयम रखे, हाथ की क्रिया का संयम करे।

हमारी साधना में गुप्ति की साधना का बड़ा महत्त्व है। ज्यों-ज्यों गुप्ति की साधना पुष्ट होती है, त्यों-त्यों संयम की साधना निर्मल बनती है, मजबूत बनती है। आर्षवाणी में ठीक कहा गया कि कायगुप्ति से संवर निष्पन्न होता है और पापाश्रवों का निरोध हो जाता है। प्रश्न हो सकता है कि संवर निष्पन्न कैसे होता है? कायगुप्ति यानी कायिक अकुशल प्रवृत्ति को हमने छोड़ दिया तो कायिक अकुशल प्रवृत्ति से जो पाप कर्म का बंध हो सकता था। उसका हमने निरोध कर दिया इसलिए वह संवर हो गया और वह संवर होने से हम कायगुप्त बन जाते हैं, पाप-आश्रवों के निरोध में सक्षम बन जाते हैं। पापाश्रव-निरोध यानी अकुशल काय प्रवृत्ति से जो आश्रवण होता या जो पापकर्म बंधन का उपाय बनता था, उस उपाय को अथवा उस मार्ग को रोक देना पापाश्रव निरोध है।

सूत्रकार ने तीन गुप्तियों का सुन्दर विश्लेषण किया है। मनोगुप्ति से एकाग्रता, वचन-गुप्ति से निर्विचारता और कायगुप्ति से स्थिरता निष्पन्न होती

है। इनका अभ्यास आत्म-कल्याण की भावना से हो, अध्यात्म की भावना से हो। पूज्य गुरुदेव तुलसी ने अभिनव सामायिक का प्रयोग शुरू कराया था। वह बड़ा सुन्दर प्रयोग है। उसमें एक उपक्रम है—त्रिगुप्ति की साधना। शरीर को स्थिर रखना, वाणी से मौन करना, मन से कोई विचार न करना। इन तीनों को एक साथ करने से युगपत् त्रिगुप्ति की साधना हो सकती है। काय-गुप्ति की साधना साधक को कल्याण-पथ की ओर ले जाने वाली होती है।

२५

मन-समाधारणा से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**मणसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! मन-समाधारणा से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ, जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ।** मन-समाधारणा से एकाग्रता निष्पन्न होती है। एकाग्रता को निष्पन्न कर जीव ज्ञान-पर्यवों को पैदा कर लेता है। ज्ञान-पर्यवों को पैदा कर वह सम्यक्त्व का विशोधन करता है और मिथ्यात्व का निर्जरण करता है।

मन-समाधारणा का अर्थ है मन को आगम-कथित भावों में भलीभांति लगाना। हमारा मन चंचल है। वह विभिन्न राग-द्वेष के विकल्पों में चला जाता है। जो मन इधर-उधर व्यर्थ दौड़ रहा है उसको कहीं बांधने की अपेक्षा है। जैसे गाय को खूंटे से बांधा जाता है वैसे ही मन को ज्ञान के खूंटे से बांधा जा सकता है। ज्ञान की बातों में मन को लगा दिया जाए। आगम में कही गई बातों में मन को नियोजित कर दिया जाए तो समय का सदुपयोग हो सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया कि एक समझदार आदमी अपने समय का सदुपयोग करने का प्रयास करता है। वह ज्ञान में समय लगाता है। उसका विनोद काव्य-शास्त्र की बातों में होता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत भाषा के कुछ विद्यार्थी एकत्रित हुए और चिन्तन किया कि आज अवकाश का दिन है। इसलिए विनोद के साथ-साथ ज्ञानवर्द्धक चर्चा

करें। एक विद्यार्थी ने कहा—मैं एक पहेली प्रस्तुत कर रहा हूं। आप सब उसका उत्तर दें। वह पहेली इस प्रकार है—

कान्तया कान्तसंयोगे, किमकारि नवोढया।
अत्रापि हि क्रियावक्तुं, मर्यादा दशवार्षिकी।।
अम्लानपंकजा माला, कण्ठे रामस्य सीतया।
मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र, प्रत्यक्षेपि क्रियापदे।।

एक विद्यार्थी खड़ा हुआ और बोला—इसका तो सीधा-सा अर्थ है। जब स्वयंवर मण्डप आयोजित हुआ तब सीता ने खिले हुए फूलों की माला राम के गले में पहना दी। प्रश्नकर्ता विद्यार्थी ने पुनः पूछा—इसमें क्रिया कौनसी है? यह संस्कृत भाषा का श्लोक है। इसमें कर्ता होगा तो क्रिया भी होगी। वह विद्यार्थी उत्तर नहीं दे पाया। कई विद्यार्थियों ने दिमाग लगाया किन्तु सही क्रिया नहीं बता सके। आखिर परीक्षक विद्यार्थी ने बताया कि मैंने यह श्लोक ज्ञानियों के मुखारविन्द से सुना है। इसमें क्रियापद स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता है। यहां 'प्रत्यक्षेपि' का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ प्रत्यक्ष अर्थात् सामने भी होता है। अतः इस श्लोक का अर्थ ऐसे कर दिया जाता है कि क्रियापद प्रत्यक्ष होने पर भी विद्वान व्यक्ति व्यर्थ में ही इधर-उधर घूमते हैं। जबकि यहां क्रियापद अक्षेपि है, जिसका अर्थ है डालना। यह क्षिपंच्-प्रेरणे धातु का रूप है। भावकर्म प्रक्रिया के अंतर्गत द्यादि में यह प्रत्यक्षेपि रूप निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ होगा कि सीता ने स्वयंवर-मण्डप में राम के गले में माला डाली।

समझदार आदमी का समय ज्ञान-चर्चा व अच्छे कार्यों में बीतता है। अज्ञानी आदमी का समय गलत कार्य करने, जुआ खेलने, शराब पीने, लड़ाई-झगड़ा करने, अधिक सोने आदि में बीतता है। जो व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति में अपने मन को नियोजित कर लेता है, किसी अच्छी पुस्तक को पढ़ने में तल्लीन बन जाता है, वह एकाग्र बन जाता है। किसी ज्ञानपूर्ण बात में मन को लगाने से, चिन्तन-मनन करने से ज्ञान का विकास होता है। कुछ वर्षों पूर्व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के पास अटल बिहारी वाजपेयीजी आए। उन्होंने कहा—'आचार्य महाप्रज्ञ के पास आने से, उनका प्रवचन सुनने से ज्ञान बढ़ता है।' ज्ञानियों का भाषण सुनने से, ज्ञान की बात सुनने से ज्ञान बढ़ता है अथवा ज्ञान पुष्ट होता है।

सही ज्ञान मिलने पर सम्यक्त्व विशुद्ध बनता है, आस्था मजबूत बनती है। आस्था को टिकाए रखने के लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान विहीन आस्था इधर-उधर घूमती रहती है, एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती। आस्था मजबूत होने से अपने आप मिथ्यात्व का निर्जरण हो जाएगा। मिथ्यात्व का समाप्त होना और सम्यक्त्व का विशोधन होना, दोनों कार्य जुड़े हुए हैं।

साधक अपने मन को शास्त्रों में कही गई बातों पर केन्द्रित करे, कल्याण का पथ प्रशस्त हो सकेगा।

२६

वचन-समाधारणा से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**वइसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! वाक्-समाधारणा—वाणी को स्वाध्याय में भलीभांति लगाने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**वइसमाहारणयाए णं वइसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ, विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ।** वाक्-समाधारणा से वह वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों—सम्यक्-दर्शन के विविध आयामों को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों को विशुद्ध कर बोधि की सुलभता को प्राप्त होता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।

वचन हमारे पास विचार विनिमय का एक माध्यम है। मैं जो कुछ आपको बता रहा हूं वह वचन के माध्यम से बता रहा हूं। आपसे जो कुछ सुनता हूं वह आपके वचन के माध्यम से और अपने कानों के माध्यम से सुनता हूं। वाणी है तब हमारा विचार विनिमय हो सकता है। यद्यपि और भी कुछ माध्यम काम में लिए जा सकते हैं किन्तु सशक्त माध्यम वाणी है। हर जीव में वाणी की शक्ति नहीं होती। जैनविद्या के अनुसार छह प्रकार के जीव हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इनमें पहले पांच प्रकार के जीवों के पास तो वाणी की शक्ति होती ही नहीं है। त्रसकाय के फिर चार भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय—दो इन्द्रिय वाले जीव लट आदि। त्रीन्द्रिय—तीन इन्द्रिय वाले जीव चींटी आदि। चतुरिन्द्रिय—चार इन्द्रिय वाले जीव मक्खी, मच्छर

आदि। पंचेन्द्रिय—पांच इन्द्रिय वाले जीव मनुष्य, पशु आदि। इनमें द्वीन्द्रिय आदि में जो भाषा होती है वह हमारे लिये तो प्रायः अज्ञात सी होती है। पशुओं की बोली भी कुछ लोग समझते हैं। एक कुत्ता किस प्रकार की आवाज करता है जिससे उसकी पीड़ा उजागर होती है। किस प्रकार की आवाज के माध्यम से वह आक्रोश अभिव्यक्त करता है और किस प्रकार की आवाज से वह अन्य कोई भाव व्यक्त करता है। वह अपनी बोली से क्या आशय प्रकट करना चाहता है, कुछ विशेषज्ञ लोग ही जान सकते हैं। आमतौर से पशुओं की भाषा हमारे लिए अज्ञात रहती है। आदमी मनुष्य की भी सभी भाषाओं को नहीं समझता है। एक हिन्दी भाषाविद् आदमी जापानी, जर्मनी, अंग्रेजी आदि भाषाओं को समझे, यह आवश्यक नहीं। आदमी मनुष्य की भाषा को भी एक सीमा तक समझ सकता है।

शास्त्रकार ने वचन को स्वाध्याय आदि में लगा देने से पहला लाभ बताया कि वह दर्शन पर्यवों को विशुद्ध कर लेता है। उदाहरण के लिए मैं कोई ज्ञान की बात बताऊंगा। आप उसे सुनेंगे तो संभव है सही बात को सही रूप में ग्रहण करने से आपका सम्यक् दर्शन पुष्ट हो सकेगा। मैं भी ज्ञान में रमण करता हूं तो मेरा दर्शन और ज्यादा पुष्ट हो सकता है। मैं पढ़ूंगा, स्वाध्याय करूंगा तो मेरा सम्यक् दर्शन और भी ज्यादा विशुद्ध हो सकता है। वाणी का सम्यक् प्रयोग करने से वचन से संबंधित जो दर्शन है उसके पर्यव विशुद्ध बन जाते हैं। दूसरा लाभ बताया कि सुलभ बोधि पैदा होती है। धर्म को नहीं जानने वाले व्यक्ति को कोई धर्म की बातें बताई जाए तो संभव है उसके लिए बोधि को प्राप्त करना सुलभ हो जाए, आसान हो जाए। सम्यक् दृष्टि अब तक नहीं मिली है पर सम्यक्त्व पाने की अर्हता उसे प्राप्त हो सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में वचन के बारे में सुन्दर श्लोक है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च तत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

जो उद्वेग न करने वाला, सत्य, प्रिय और हितकारक भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम जप का अभ्यास है। वही वाणी संबंधी तप कहा गया है।

वाणी संबंधी तप का पहला प्रकार है—अनुद्वेगकर भाषा। दुःख पैदा न

करने वाली, संताप पैदा न करने वाली, कष्ट न देने वाली यानी अनुद्वेगकर भाषा बोलना वाणी का एक तप है। बोलने वाला व्यक्ति यह ध्यान दे कि मेरे द्वारा कोई ऐसी बात न कह दी जाए जो सामने वाले के मन में पीड़ा उत्पन्न करने वाली हो, दुःख पैदा करने वाली हो। दूसरा प्रकार है—सत्य भाषा। बोलने वाला वक्ता यह ध्यान दे कि मेरे मुंह से असत्य भाषा का प्रयोग न हो जाये। मैं झूठ बात न कह दूं। तीसरा प्रकार है—प्रिय भाषा। मधुर भाषा, अच्छी भाषा का प्रयोग किया जाए। मधुर भाषा यानी कंठ से ध्वनि भी मधुर निकले और शब्दों का अर्थ भी अच्छा हो। कंठ मधुर हो यह तो अक्सर किसी के हाथ की बात नहीं है। कौआ यह सोचे कि मेरे कोयल जैसे कंठ हो जाये तो मुश्किल है। वह तो गोड गिफ्ट है। प्रकृति से ही कोयल को मधुर कंठ मिला है।

एक कौआ उड़ता-उड़ता जा रहा था। रास्ते में कोयल मिल गयी।

उसने पूछा—भैया! आज इतनी जल्दी-जल्दी कहां जा रहे हो?

कौआ—बहन! यह गांव बड़ा खराब है। मैं जहां कहीं बैठता हूं, लोग मुझे उड़ा देते हैं। इस गांव के लोग अच्छे नहीं हैं। मैं इस गांव को छोड़कर परदेश जा रहा हूं।

कोयल—भैया! पहले यह तो बताओ, तुमने कांव-कांव करना छोड़ा या नहीं।

कौआ—वह तो नहीं छोड़ा।

कोयल—वह नहीं छोड़ा तो तुम किसी गांव में चले जाओ, लोग तुमसे प्रेम नहीं करेंगे।

आदमी प्रिय भाषा का प्रयोग करे। कोई कड़वी भाषा बोल दे तो वापस उसे प्रिय भाषा से जवाब दे। ईंट का जवाब पत्थर से देने की भी एक नीति है। किंतु ईंट का जवाब फूलों से भी दिया जा सकता है। चौथा प्रकार है—हितकर भाषा। केवल मीठी बातें मत बोलो। सामने वाले का हित हो सके वैसी बातें कहो। अर्थहीन मीठी-मीठी भाषा बोल भी दी तो ज्यादा कोई फायदे वाली बात नहीं होती। मैं छोटा बच्चा था। मैंने आस-पास के कुछ लोगों से गाली सुनी और मैं भी गाली देना सीख गया। एक दिन मैंने अपने घर में भी वह गाली बोल दी। मेरी संसारपक्षीया मां, जो आज संसार में नहीं है, ने दुर्गा का सा रूप धारण कर लिया और कहा—तुमने गाली बोली है। मैं तुम्हारे मुंह में

लाल मिर्ची डाल दूंगी। उन्होंने इतनी कड़ाई इसीलिए की होगी कि मेरी गाली की आदत आगे बढ़ नहीं जाए, वहीं समाप्त हो जाए। हालांकि उस समय मैं इतना अबोध बच्चा था कि उस गाली का अर्थ भी नहीं जानता था। किन्तु मेरी मां ने जो कड़ाई की, उससे मेरा हित हुआ। यह मैं स्वीकार करता हूं। एक बार की कड़ाई भी कई बार सत्पथ पर ले जाने वाली होती है। अगर मां मुझे नहीं डांटती, कुछ नहीं कहती तो गाली की वृत्ति मेरी आगे बढ़ सकती थी। हित की भावना से कड़ी बात भी कही जाए तो वह सामने वाले के लिए लाभदायी हो सकती है।

कभी-कभी गुरु भी उलाहना देते हैं। वे उलाहना इसलिए देते हैं कि शिष्य की कमजोरी दूर हो जाए और वह ठीक रास्ते पर चले। कोई कुछ कहने वाला न हो तो धीरे-धीरे दुर्बलता बढ़ सकती है। इसलिए कभी-कभी उस दुर्बलता को रोकने के लिए या खत्म करने के लिए कड़ी बात कहनी पड़ती है। पांचवां प्रकार है—स्वाध्याय। स्वाध्याय एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। स्वाध्याय से आलोक मिलता है। उस आलोक से जब पथ आलोकित हो जाता है तो गति करने में काफी सुविधा हो जाती है। स्वाध्याय में भी आगम का स्वाध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस परिप्रेक्ष्य में श्रुत सामायिक का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी प्रतीत होता है। मेरा ऐसा मानना है कि प्रतिदिन एक श्रुत सामायिक की जाए और उसमें आगम या आगम तुल्य ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जाए तो अनेक प्रकार की नई-नई जानकारियां सहज रूप से प्राप्त हो सकती हैं और साथ में पथदर्शन भी प्राप्त किया जा सकता है। छठा प्रकार है—जप। भगवान का नाम लिया जाए। पुनीत आत्माओं का स्मरण किया जाए। किसी अच्छे मंत्र का उच्चारणपूर्वक जप किया जाए। यह भी वाणी का एक तप हो जायेगा। इस प्रकार वाणी के छह प्रकार के तप हो जाते हैं।

आर्ष वाणी में ठीक कहा गया कि वचन का सम्यक् प्रयोग करने से, वचन को स्वाध्याय आदि में लगाने से वह वचन योग्य दर्शन पर्यवों को विशुद्ध करता है। उनकी विशुद्धि से सुलभ बोधिता प्राप्त होती है और दुर्लभ बोधिता निर्जीर्ण होती है।

२७

काय-समाधारणा से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**कायसमाहारणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! काय-समाधारणा—संयम योगों में काय को भलीभांति लगाने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ, विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।** काय-समाधारणा से वह चरित्र-पर्यवों—चरित्र के विविध आयामों को विशुद्ध करता है। चरित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चरित्र (वीतरागभाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्धि करता है। यथाख्यात चरित्र को विशुद्ध कर केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र को क्षीण करता है। उसके पश्चात् सिद्ध होता है, प्रशांत होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

शरीर हमारे पास है। वैसे शरीर हमारे साथ अनंत काल से माना गया है। सूक्ष्म शरीर तो साथ रहते ही हैं। वे एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय अन्तराल गति में भी साथ रहते हैं। यह आत्मा एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर को धारण कर लेती है। यह शरीर धारण करने का क्रम आगे से आगे तब तक चलता रहता है जब तक आदमी निर्वाण को प्राप्त नहीं हो जाता है। काय-समाधारणा का अर्थ है शरीर का सम्यक् प्रयोग करना। काय को स्वाध्याय में

लगाना, ध्यान में लगाना, आतापना में लगाना, सेवा में लगाना, अच्छे कार्यों में लगाना। शरीर हमारा नौकर है। हम नौकर का ठीक उपयोग करें और यह ध्यान रखें कि कहीं वह गलत कामों में न लग जाए। नौकर का ध्यान न रखा जाए तो कभी-कभी नौकर मालिक को धोखा देने वाला, लूटने वाला और मारने वाला भी हो सकता है। इसलिए नौकर के प्रति सावधानी रखना चाहिए। नौकर विश्वस्त है या नहीं, यह ध्यान देना चाहिए। अन्यथा घर का भेदी बनकर वही आपके लिए खतरा पैदा करने वाला भी बन सकता है। शरीर ज्यादा भोगी न बन जाए, प्रमाद में न चला जाए।

शरीर से बड़ा लाभ भी मिल सकता है। शरीर से साधना की जा सकती है। शरीर से तपस्या की जा सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता में शरीर तप का उल्लेख मिलता है। वहां कहा गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों की पूजा करना, यह शरीर का तप है और काय समाधारणा का प्रयोग है। पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को भी शारीर तप कहा है।

ब्रह्मचर्य की साधना करना सबके लिए आसान काम नहीं होता। धन्य है जो युवा अवस्था में भी ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं। इस साधना में मन पर कंट्रोल करना होता है। शरीर को संयमित रखना होता है। दृष्टि संयम भी आवश्यक होता है। ब्रह्मचर्य के लिए नवबाड़ का भी विधान है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आदमी खानपान का संयम रखे। इतना ज्यादा और इतना गरिष्ठ न खाए कि भीतर में उन्माद पैदा हो जाए। ऐसे दृश्यों को देखने से भी बचे जो दृश्य विकृति पैदा करने वाले होते हैं। दृष्टि का असंयम भी ब्रह्मचर्य की साधना में दोष लगाने वाला हो सकता है। जीवों की हिंसा को टालते हुए चलना यह अहिंसा की साधना भी शारीर तप है। शरीर के सम्यक् प्रयोग के प्रति जागरुकता रहे तो चारित्र के पर्यवों की निर्मलता और यथाख्यात चारित्र का स्पर्श भी हो सकता है।

हम शरीर से साधना करें। स्वाध्याय, जप करें। कुछ समय हम खड़े-खड़े साधना करें, खड़े-खड़े जप करें। वह भी एक काय समाधारणा का प्रयोग है।

शरीर में शक्ति हो तो कुछ समय खड़े-खड़े साधना करनी चाहिए। हालांकि बैठे-बैठे करने में कुछ विश्राम मिलता है। जो अवस्था से वृद्ध हो जाए उनकी बात अलग है। किन्तु मात्र आलस्य के कारण या आराम की वृत्ति के कारण खड़े-खड़े स्वाध्याय आदि न करें तो हम साधना के एक प्रयोग से वंचित रह जाएंगे। हम पांच मिनिट से शुरु करें फिर १० मिनिट, १५ मिनिट, २० मिनिट, जितनी देर स्थिरता के साथ जप, ध्यान आदि कर सकें उतना करना चाहिए। यह भी काय-समाधारणा का प्रयोग है। हम उपवास आदि तपस्या करते हैं। उसमें शरीर को भोजन नहीं दिया जाता। यह भी काय-समाधारणा का प्रयोग है। शरीर से एक साधु दूसरे साधु की सेवा करता है। यह भी काय-समाधारणा का प्रयोग है। शरीर को दूसरों की सेवा में लगाए जिससे निर्जरा होगी। रुग्ण या वृद्ध साधुओं को आराम मिलेगा, साता मिलेगी। दूसरों को चित्त समाधि पहुंचाना, दूसरों को साता पहुंचाना बड़ी सेवा होती है।

आदमी जीवन के बारे में यदा-कदा धर्म जागरणा करते-करते सोचे कि आखिर मुझे अवस्था आ रही है। धीरे-धीरे जीवन काल घटता जा रहा है। मैं शरीर का सम्यक् प्रयोग करता रहूं। आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया कि काय-समाधारणा से जीव चारित्र के पर्यवों को निर्मल कर लेता है, विशुद्ध बना लेता है और चारित्र पर्यवों को निर्मल बनाते-बनाते यथाख्यात चारित्र यानी वीतराग चारित्र की भी प्राप्ति कर लेता है। फिर सारे कर्मों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, प्रशान्त और परिनिर्वृत्त होकर सब दुःखों का अन्त करने वाला भी बन जाता है।

२८

ज्ञान-सम्पन्नता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**नाणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! ज्ञान-संपन्नता (श्रुतज्ञान की संपन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ।**

जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।

तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ।।

नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयसंघायणिज्जे भवइ। ज्ञान-संपन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-संपन्न जीव चार गति-रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी में विनष्ट नहीं होता।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सूई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता।

(ज्ञान-संपन्न) अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

हमारे जीवन में ज्ञान का बड़ा महत्त्व है। ज्ञान बहुत पवित्र चीज है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया—**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** ज्ञान के समान दुनिया में कोई पवित्र चीज नहीं है। जिसमें श्रद्धा होती है, ज्ञान की

रुचि होती है वह व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान को प्राप्त कर आदमी परम शांति को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जीवन में ज्ञान की प्राप्ति हो, यह प्रयास करना चाहिए। सूत्रकार ने एक सुन्दर उदाहरण दिया कि ज्ञान युक्त आदमी नष्ट नहीं होता। जैसे—एक सूई धागे से युक्त है। वह यदि गिर भी जाए तो आसानी से मिल जाती है। जिस सूई में धागा नहीं है वह गिर जाए तो उसे खोजना मुश्किल हो जाता है। इसी तरह ज्ञान युक्त आदमी नष्ट नहीं होता, ज्यादा भटकता नहीं है। ज्ञान का धागा पकड़ में रहना चाहिए। बच्चे पतंग उड़ाते हैं। वह धागे में बंधी हुई है तो दूर चली जाने पर भी सुरक्षित रह सकती है और धागा टूग गया, डोर टूट गई तो पता नहीं वह पतंग कहां जाकर गिरेगी। ज्ञान का धागा टूटे नहीं। आदमी ज्ञानयुक्त रहे। आध्यात्मिक संदर्भों में देखें तो ज्ञान का बड़ा मूल्य है। ज्ञान का अभ्यास करने से पदार्थों को जान लिया जाता है।

जैनदर्शन में पांच ज्ञान बताए गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान। अंतिम तीन ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान हैं। प्रथम दो ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान हैं। केवलज्ञान सबसे बड़ा ज्ञान है। इसके बाद कोई ज्ञान अवशेष नहीं रहता। उदाहरणार्थ—एक चौकी है। वह धूल के नीचे ढ़की हुई है। थोड़ी-सी रेत दूर हुई चौकी का एक सिरा दिखने लग गया। फिर थोड़ी धूल दूर हुई, दूसरा सिरा दिखने लग गया। तीसरे सिरे की धूल दूर हुई, तीसरा सिरा दिखने लग गया। चौथे सिरे की धूल दूर हुई, चौथा सिरा भी दिखने लग गया। चार सिरे दिखने लग गए। इसी तरह आत्मा में ज्ञान अनन्त है। आवरण जितना-जितना हटता है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान हो जाता है। जब सारी धूल दूर हो गई फिर चार सिरे नहीं, पूरी एक चौकी दिखाई देने लगती है। इसी तरह ज्ञान का पूरा आवरण दूर हो जाने पर एक केवलज्ञान बचेगा। जिस प्रकार वह चौकी पूर्णतया अनावृत होने से, सारी धूल दूर हो जाने से एक दिखाई देती है और थोड़ी-थोड़ी धूल दूर होने से कई भागों में दिखाई देती है। इसी प्रकार हमारा ज्ञान है। थोड़ा-थोड़ा ज्ञान अनावृत्त होने से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि होते हैं। केवलज्ञान होने का मतलब है ज्ञान का पूर्णतया अनावृत्त हो जाना, सर्वज्ञान हो जाना। इसलिए केवलज्ञानी का एक नाम है सर्वज्ञ यानी सबको जानने वाला। हमारा लक्ष्य तो यह रहे कि हम सर्वज्ञ बनें, केवलज्ञानी बनें। वह संभव नहीं हो तो

श्रुतज्ञान हमारा यथासंभव विशिष्ट बने। श्रुतज्ञान से भी बहुत कुछ जाना जा सकता है।

ज्ञान के विभिन्न प्रकार हैं। वैसे सभी चीजें ज्ञातव्य हैं। परंतु आदमी अध्यात्मविद्या को भी समझने का प्रयास करे। विद्याओं को भी जानना चाहिए। ज्ञान तो आदमी को होना चाहिए और खासकर जीवन का पूर्व भाग यानी २५ वर्ष का जो कालमान है उसमें खूब ज्ञान अर्जन करना चाहिए। प्राचीन साहित्य में चार प्रकार के आश्रम का वर्णन मिलता है—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। पहला ब्रह्मचर्य आश्रम है। ब्रह्मचारी रहते हुए आदमी ज्ञान का अर्जन करे। हम व्यवहार में भी देखते हैं २५ वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। वे एम. ए., एम. बी. ए. आदि करके ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। डिग्रियां प्राप्त कर लेते हैं तो उनके जीवन का एक मजबूत आधार हो जाता है। यदि पढ़ा-लिखा नहीं है तो जीवन में एक कमी रह जाती है। अनपढ़ संतान के माता-पिता के लिए तो यहां तक कहा गया—**माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।** वह मां संतान की शत्रु है, वह पिता सन्तान का दुश्मन है जिसने अपनी संतान को पढ़ाया नहीं। हालांकि लोग ध्यान देते हैं। अच्छी-अच्छी स्कूलों में, बड़ी-बड़ी स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाने का प्रयास करते हैं ताकि बच्चा योग्य बन जाए।

ज्ञान संपन्नता के द्वारा संसार कांतार में आदमी विनष्ट नहीं होता। वह ज्ञान उसे उबार लेता है। कोई गिर भी जाये तो आसानी से उसे उठाया जा सकता है। आसानी से वह अपना उद्धार भी कर सकता है। ज्ञान का काम है किसी को नष्ट होने से बचाना। ज्ञान के द्वारा विनय का विकास होता है। विनय आने से आदमी योग्य बन जाता है और योग्य आदमी अनेक क्षेत्रों में विशिष्टता को प्राप्त कर सकता है। वह धन को भी प्राप्त कर सकता है, धर्म को भी प्राप्त कर सकता है और सुख-शांति को भी प्राप्त कर सकता है। सूत्रकार ने कहा कि ज्ञानी आदमी चारित्र की भी आराधना कर लेता है। ज्ञान सम्यक् है तो सम्यक् चारित्र की भी आराधना हो सकती है। एक और सुन्दर बात बताई कि ज्ञानी आदमी प्रामाणिक बन जाते हैं। अपने सिद्धांत के बारे में और दूसरों के सिद्धांतों के बारे में वह प्रामाणिक प्रवर बन जाता है। किसी आदमी को कुछ पूछना होता है तो वह सोचता है, अमुक आदमी विद्वान है, बहुश्रुत है उसके पास हमें कोई ज्ञान की बात मिल सकेगी। जिज्ञासाओं का

समाधान मिल सकेगा। जब लोग स्वसमय और परसमय के ज्ञाता पुरुष से प्रश्न करते हैं कि जैनदर्शन का क्या मंतव्य है और अन्य दर्शनों का क्या मन्तव्य है? तो वह ज्ञानी आदमी तुलनात्मक अध्ययन करके एक प्रामाणिक पुरुष के रूप में भी प्रख्यात हो जाता है।

शास्त्रकार ने ठीक कहा—ज्ञान संपन्नता जीवन में आ जाती है तो वह व्यक्ति विनय में आगे बढ़ता है। चारित्र की आराधना साध लेता है और सब पदार्थों को जानने वाला बन जाता है। इसके साथ-साथ स्वसमय—अपने दर्शन के बारे में और परसमय—दूसरों के दर्शन के बारे में प्रामाणिक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिए जीवन में ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। आदमी को ज्ञान संपन्न बनने का प्रयास करना चाहिए।

२९

दर्शन-सम्पन्नता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**दंसणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! दर्शन-सम्पन्नता (सम्यक्-दर्शन की संप्राप्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।** दर्शन-सम्पन्नता से वह संसार-पर्यटन के हेतुभूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक् दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन से अपने आपको संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

दर्शन जगत की दो मुख्य धाराएं है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। जहां नास्तिक दर्शन पुनर्जन्म, परलोक, आत्मा, पुण्य-पाप के फल आदि को स्वीकार नहीं करता है। वहीं आस्तिक दर्शन में आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। पुनर्जन्म, पुण्य-पाप के फल, कर्मवाद और मोक्ष को भी माना गया है। नास्तिक दर्शन के प्रमुख आचार्य चार्वाक ने स्पष्ट कहा—आगे-पीछे कुछ नहीं है। यह लोक उतना ही है जितना हमारे सामने है। परलोक जैसी कोई चीज नहीं है। इसलिए यह बेकार की कष्ट साधना नहीं करनी चाहिए। जब शरीर को जला दिया जायेगा फिर वापिस कौन आएगा। इसलिए आगे की चिंता मत करो। जो कुछ करना हो यहीं कर लो।

आस्तिक दर्शन में बताया कि यह जीवन बहुत छोटा है। यहां है वही सब कुछ नहीं है। तुम आगे के बारे में सोचो। इस अल्पकालिक जीवन का कोई भरोसा नहीं, कब क्या हो जाए? आज एक बच्चा है उसको ८० या १०० वर्ष आएंगे या नहीं? बीच में भी कुछ हो सकता है। जिसको जितने वर्ष आ गए वे तो आ गए। आगे कितने आयेंगे यह कहना कठिन है। इसलिए तुम आगे को देखो और उस परम मोक्ष को देखो जहां पहुंचने के बाद परम सुख/ अनन्त सुख मिलेगा। ऐसा सुख जो अव्याबाध होगा, जिसका कभी अन्त नहीं होगा।

एक समस्या है। कोई कहता है परलोक है, पुनर्जन्म है और कोई कहता है पुनर्जन्म नहीं है। आखिर आदमी कौनसी बात को स्वीकार करे। आदमी को यह ध्यान देना चाहिए कि मुझे जीवन में गलत कार्य नहीं करने हैं। अच्छे कार्य करने हैं। परलोक होगा तो अच्छे काम का अच्छा फल मिल जायेगा। अगर परलोक नहीं भी है तो कौनसा नुकसान हो जाएगा। इसलिए परलोक है तो भी अच्छा काम करना ठीक है और परलोक नहीं है तो भी अच्छा काम करना ठीक है।

आस्तिक विचारधारा ने कहा कि पुनर्जन्म है। संदेह होने पर भी पुनर्जन्म को मानकर जीवनशैली का निर्धारण करना चाहिए। पुनर्जन्म को बताने वाली घटनाएं भी मिलती है। जहां प्राचीन साहित्य में पूर्वजन्म की घटनाएं मिलती है वहां आधुनिक साहित्य में भी कितने-कितने बच्चों की पूर्वजन्म की घटनाएं प्राप्त होती हैं। मैं यह नहीं कहता कि जो बातें प्राप्त होती हैं वे सब बातें सत्य ही हैं। फिर भी कुछ ऐसी घटनाएं पूर्वजन्म, पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने में योगभूत बन सकती हैं।

सूत्रकार ने कहा कि दर्शन-संपन्नता से भव मिथ्यात्व का छेदन हो जाता है। हमारी आत्मा अनन्त काल से संसार में भ्रमण कर रही है। वह अनंत काल तक मिथ्यात्व में ही रहती है। वैसे देखा जाए तो मूल घर मिथ्यात्व ही है। भगवान् महावीर के पूर्वजन्मों को देखें। उनको सम्यक् दर्शन तो नयसार के भव में मिला। पहले अनन्तकाल तक मिथ्यात्व में रहे। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति से अनंतकाल के साथी मिथ्यात्व का छेदन हो जाता है और क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। क्षायिक सम्यक्त्व एक बार आ जाने पर वापिस कभी नहीं

जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व वापिस जा सकता है, उपशम सम्यक्त्व वापिस जा सकता है। सम्यक्त्व की अवस्था में आचार का पालन किया जाता है। उसका बड़ा फल होता है। मिथ्यात्व की अवस्था में आचार का पालन किया जाता है। उसका ज्यादा फल नहीं होता। तामली तापस ने मिथ्यात्व की अवस्था में जितने लम्बे काल तक बेले-बेले की तपस्या की, अगर वही सम्यक्त्व की अवस्था में करता तो उतनी तपस्या में तो सात जीव मुक्ति में चले जाते। परंतु वह मिथ्यात्व अवस्था में की इसलिए ज्यादा फल नहीं मिल सका। सम्यक्त्व की अवस्था में साधना करने का मतलब है अंक के आगे शून्य लगाना। जैसे एक अंक के आगे शून्य लगाते जाएं तो संख्या में कितना वजन आ जाता है। दस, सौ, हजार, लाख, करोड़, अरब, खरब आदि आगे कितनी बढ़ जायेगी। एक अंक है तो शून्य का मूल्य है। अंक बिना केवल शून्य हो या अंक के पहले शून्य हो तो उनका क्या मूल्य होगा। सम्यक्त्व तो अंक के समान है। वह अंक है फिर आचार की साधना की जाए तो कितना फल मिलेगा। अंक नहीं है फिर संवर की साधना के रूप में तपस्या आदि का विशेष फल नहीं मिलता। इसलिए अध्यात्म की साधना में सम्यक्त्व को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

पहला प्रश्न—निर्वाण किसे मिलता है?

उत्तर—जिसे मोक्ष प्राप्त होता है। उसे निर्वाण प्राप्त होता है।

दूसरा प्रश्न—मोक्ष किसे मिलता है?

उत्तर—जिसके पास चारित्र का गुण है। उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

तीसरा प्रश्न—चारित्र की प्राप्ति किसे होती है?

उत्तर—जिसके पास सम्यक् ज्ञान है। उसे सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

चौथा प्रश्न—सम्यक् ज्ञान किसे होता है?

उत्तर—जिसके पास सम्यक् दर्शन है। उसी का ज्ञान सम्यक् होता है।

निर्वाण के मूल में सम्यक्त्व है। सम्यक् दर्शन है तो निर्वाण भी कभी मिल सकेगा। वह नहीं है तो निर्वाण भी नहीं मिलेगा।

सूत्रकार ने कहा कि दर्शन-संपन्नता से भव मिथ्यात्व का छेदन हो जाता है और सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। एक बार वह दीप शिखा दिख गई, प्रकाश रश्मि प्राप्त हो गई, वह फिर कभी भी बुझेगी नहीं। जैसे—बल्ब, ट्यूबलाइट आदि जलते हैं किन्तु लाइट चली जाती है तो वे बुझ जाते हैं। दीये में लौ जलती है किन्तु कुछ तेज हवा आदि आने से वह लौ बुझ सकती है। उसी प्रकार ढ़ीला-ढ़ाला या हल्का-फुल्का सम्यक्त्व होता है। वह थोड़ी-सी परिस्थिति सामने आने पर समाप्त हो जाता है। मन विचलित हो जाता है, आस्था टूट जाती है। क्षायिक सम्यक्त्व मजबूत होता है। उसमें आस्था नहीं डोलती है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होना अनंतकाल की यात्रा में एक महानतम उपलब्धि होती है। क्षायिक सम्यक्त्व आने के बाद मोक्ष में ज्यादा देरी नहीं होती, बहुत जल्दी केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त हो जाता है।

आदमी का दृष्टिकोण सम्यक् होना चाहिए। जो जैसा है, उसे वैसा समझना चाहिए। **यथार्थ तत्त्वदर्शनम्** यथार्थ तत्त्व को जानना, पहचानना और स्वीकार करना चाहिए। मेले लगते हैं, उसमें बच्चे कागज के रंगीन चश्में खरीदते हैं। कोई लाल चश्मा खरीदता है और जब आंखों पर लगाता है तो उसे दुनिया लाल दिखने लग जाती है। कोई पीले या हरे रंग का चश्मा लगाता है। उसे दुनिया पीली और हरी दिखने लगती है किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि दुनिया लाल, पीली या हरी हो गई। जो जैसा चश्मा लगा लेता है उसे वैसा ही दिखने लग जाता है। सम्यक् दर्शन सम्पन्न आदमी जो जैसा है उसे वैसा ही स्वीकार करता है। हम लोग गुरुधारणा करवाते हैं। वह व्यावहारिक सम्यक्त्व की दीक्षा है। उसमें शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म को स्वीकार किया जाता है।

● देव—वह राग-द्वेष मुक्त आत्मा, जो केवलज्ञान सम्पन्न होती है तथा तीर्थंकर होती है।

● गुरु—साधु, जो पांच महाव्रतों का पालन करते हैं। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना करता है।

● धर्म—वह सिद्धांत और तत्त्व, जो वीतराग/केवलज्ञानी द्वारा निर्दिष्ट

है। इसके साथ-साथ हम कुछ नियम भी दिलाते हैं ताकि जीवन अच्छा रह सके।

जैन तत्त्वविद्या के अनुसार तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष। इन तत्त्वों को समझ लिया जाए तो सम्यक्त्व की सम्पुष्टि हो सकती है, दृष्टिकोण सम्यक् बन सकता है। मूल बात है—आदमी की दृष्टि कहां टिकी हुई है, ध्यान कहां पर है? अगर आदमी का ध्यान आत्मा या मोक्ष में है तो समझना चाहिए वह सम्यक्त्वी है अथवा सम्यक्त्व की ओर अग्रसर है। यदि आदमी का ध्यान दिन-रात भोगों में ही रहता है। आत्मा, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप आदि की कोई अवधारणा नहीं, इसका मतलब है अभी मिथ्यात्व का रोग लगा हुआ है, मिथ्यात्व मोह का आवरण आया हुआ है। यह मिथ्यात्व का रोग तभी दूर होगा जब सम्यक् दर्शन प्राप्त होगा। दर्शन-सम्पन्नता से मिथ्यात्व का हमेशा के लिए विच्छेद हो जाता है और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। आदमी अनुत्तर ज्ञान, दर्शन से सम्पन्न बन जाता है।

३०

चारित्र-सम्पन्नता से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।** चारित्र-संपन्नता से वह शैलेषी-भाव को प्राप्त होता है। शैलेषी-दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार केवली-सत्क कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, प्रशांत होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वृत होता है और सब दुःखों का अंत करता है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से जुड़ा हुआ तत्त्व है सम्यक् चारित्र। ज्ञान जीवन के लिए आवश्यक है और उसका सार है आचार। ज्ञान है तो उसका सार भी प्राप्त होना चाहिए। जीवन में चारित्र भी आए, आचार भी आए। साधु चारित्र की साधना करता है और चारित्र की आराधना करते-करते इतना आगे बढ़ जाता है कि वह शैलेषी भाव को प्राप्त हो जाता है। शैलेषी भाव जैनदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। शैलेषी शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द है शीला। शीला से होने वाला शैल होता है। शैल का अर्थ है—पर्वत। पर्वतों में प्रमुख होता है मेरु पर्वत। उसे शैलेष कहा जाता है। मेरु पर्वत के समान स्थिरता की स्थिति शैलेषी अवस्था में होती है। उस अवस्था में आदमी अयोगी बन जाता है, कोई

प्रकम्पन नहीं होता। शरीर, वाणी और मन पूर्णतया अप्रकम्प बन जाते हैं। चारित्र की साधना करते-करते वह शैलेषी अवस्था को प्राप्त हो जाता है। शैलेषी शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—शैलेष शब्द शील-समाधौ धातु से निष्पन्न होता है। शील अर्थात् चारित्र। संपूर्ण चारित्र यानी यथाख्यात चारित्र। वह उत्कृष्ट भाव चौदहवें गुणस्थान में आता है। अतः उसे शील का ईश शैलेष कहा जाता है। यथाख्यात चारित्र की भी चौथी भूमिका जो चौदहवें गुणस्थान की स्थिति अथवा वहां होने वाली स्थिति शैलेषी अवस्था कहलाती है।

जैनविद्या के अनुसार आठ कर्म माने गये हैं। उनमें चार घात्य कर्म कहलाते हैं और चार अघात्य कर्म कहलाते हैं। घात्य कर्म वे हैं, जो आत्म गुणों की घात करने वाले हैं। आत्म गुणों को कमजोर बनाने वाले कर्म हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय। शेष चार कर्म अघात्य कहलाते हैं। केवलज्ञानी में भी चार अघाती कर्म विद्यमान रहते हैं। चारित्र की उत्कृष्ट साधना करके उन शेष चार कर्मों का भी नाश कर दिया जाता है। उन कर्मों का नाश होते ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त और सब दुःखों का अन्त करने वाली होकर मोक्ष में विराजमान हो जाती है। चारित्र की साधना जितनी उत्कृष्ट होगी उतनी शीघ्रता से शैलेषी अवस्था की प्राप्ति हो सकेगी। चारित्र की साधना करने वाले के जीवन में संघर्ष भी आ सकते हैं, उतार-चढ़ाव आ सकते हैं और कभी-कभी पतन की स्थिति भी आ सकती है।

अरणक मुनि के साथ और क्या हुआ था? पिता, मां, बेटा तीनों को वैराग्य हो गया और तीनों ही दीक्षित हो गए। पिता का बेटे के प्रति स्नेह भाव था। पिता ने सोचा—मैं अभी तक स्वस्थ हूं इसलिए गोचरी आदि कार्य मैं कर लिया करूंगा, जिससे बेटे मुनि अरणक को तकलीफ नहीं होगी। पुत्र को आराम मिलना शुरु हो गया। जवानी की अवस्था में ज्यादा आराम नहीं करना चाहिए। आराम हराम होता है। आदमी को किसी धन्धे में लगे रहना चाहिए। आरामतलब नहीं बनना चाहिए। बेटा न तो काम करता, न कहीं बाहर जाता। पिता भिक्षा ले आता। बेटा आराम से आहार कर लेता। काम-काज सारा पिता करता। एक समय आया, पिता का स्वर्गवास हो गया। अब काम-काज बेटे को करना पड़ता। उसी को गोचरी के लिए जाना पड़ता और अन्य काम भी करना पड़ता। गर्मी में बाहर जाता तो शरीर पसीने से तरबतर हो जाता। ऊपर

से मस्तक जलता, नीचे से पांव जलते। सोचा, काम तो कठिन है। एक दिन वह भिक्षा के लिए घर-घर पर्यटन कर रहा था। साधु का काम है घर-घर में जाकर भिक्षा लाए। एक जगह पूरा पात्र न भरे। जैसे—भंवरा एक-एक फूल से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है। वैसे ही साधु को एक-एक घर में जाकर थोड़ा-थोड़ा आहार लेना चाहिए ताकि अपना काम भी चल सके और गृहस्थों पर भार भी न पड़े। एक ही घर से खूब ज्यादा ले लिया फिर वे गृहस्थ लोग क्या खायेंगे? या तो उनको दुबारा नया बनाना पड़ेगा या फिर भूखा रहना पड़ेगा। साधु ऐसा न करके अनेक घरों में जाकर भिक्षा लाए। मुनि अरणक भिक्षा कर रहा था। गर्मी से आकुल-व्याकुल हो रहा था। एक बड़ी अट्टालिका दिखाई दी। वहां छाया थी। वह विश्राम के लिए वहां रुक गया। उस अट्टालिका में जो गृहस्वामिनी रहती थी, वह पति वियुक्ता थी। उसने देखा नीचे जो मुनि खड़े हैं वे कितने सुन्दर लग रहे हैं। मुनिजी भिक्षा के लिए अन्दर गए। वह गृहस्वामिनी बोली—मुनिप्रवर! मेरा जीवन तो आपके चरणों में अर्पित है। आप कहां भटक रहे हैं। यह इतना बड़ा महल क्या काम आयेगा? आप यहीं रहें, यहीं आराम करें। तरुण अवस्था थी, कुछ आरामतलबी भी थी। मुनि का मन कमजोर हो गया। संयम से मन फिसल गया। सोचा—इतना बड़ा सुख-सुविधा पूर्ण मकान है। कौन घर-घर जाकर भिक्षा लाए? मैं तो यहीं इसके पास रह जाऊं। वह वहीं रह गया। उधर मां, जो साध्वी थी, ने सोचा—बेटा महाराज कहां चला गया। दो-तीन दिनों से देखा नहीं। मां का मोह जाग गया। वह पागल सी हो गई। बेटा कहां गया? बस एक ही बात दिमाग में बैठ गई। अरणक-अरणक बोलती हुई शहर में घूम रही थी। वह घूमती-घूमती उस अट्टालिका के पास से गुजरी। लड़के ने आवाज सुनी। उसे लगा यह तो मां की आवाज आ रही है। वह नीचे आया, बोला—मां मैं अरणक हूं। बेटे को देखकर मां को शांति मिली। मां ने कहा—बेटा अरणक! क्या हुआ तुझे? इतने दिन तूं कहां था? बेटे ने कहा—मां! मैं तो फिसल गया। मेरा मन कमजोर हो गया और मैं यहीं रह गया। मां ने कहा—बेटा! आत्मा का कल्याण करने के लिए हम साधु बने थे। तुम कहां फंस गए? वापिस बोध मिला और वह संभल गया। उसने चिन्तन किया, मेरा पतन किसने किया। मेरा पतन करने वाली सुकुमारता है। इस सुकुमारता ने मुझे भटका दिया। दसवेआलियं में कहा गया—**आयावयाही चय सोउमल्लं** अपने आपको तपाओ और सुकुमारता को छोड़ो। वह पुनः

साधु बन गया। कठोर साधना करने लगा। साधना करते-करते एक समय आया उसे केवलज्ञान हो गया। वह शैलेषी अवस्था को प्राप्त हो गया और आयुष्य को पूरा करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।

चारित्र सम्पन्नता से बड़ा लाभ यह है कि आत्मा को सिद्धत्व, बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यद्यपि चारित्र की साधना करते-करते बीच-बीच में मोहनीय कर्म बाधक बन सकता है। मुनि अरणक के साथ और क्या हुआ था? मोहनीय कर्म का योग मिल गया, विकार भाव आ गया, उन्माद आ गया, सुकुमारता का योग मिल गया। उधर अट्टालिका में उस महिला का योग मिल गया और मुनि का पतन हो गया। पर वापिस मां का योग मिला और मुनि अरणक संभल गया। मां हो तो ऐसी हो जो गिरे हुए बेटे को उठा ले। उसे प्रतिबोध देकर वापिस सन्मार्ग पर ले आए। इसलिए मां का अपना मूल्य है। संसार में भी मां का कितना बड़ा उपकार होता है। मां किस प्रकार सन्तान का पालन-पोषण करती है। किस प्रकार उसकी सुरक्षा करती है। वह स्वयं कष्ट पाकर अपनी संतान को सुख में रखने का प्रयास करती है। मां का सांसारिक संदर्भों में भी बड़ा उपकार होता है और धर्म के संदर्भ में भी मां का बड़ा उपकार हो सकता है। किस प्रकार मां से प्रेरणा मिलती है और बच्चे में धर्म के संस्कार भी आ जाते हैं। कितनी माताएं होंगी, जिन्होंने अपनी संतानों को धर्म के संस्कार दिये, धर्म के पथ पर उनको लाने का प्रयास किया। मोखजी खिमेसरा को मां का योग मिला। उदयपुर में संतों का चौमासा था। मां ने कहा—बेटा! तुम संतों के पास जाया करो। किन्तु बेटा नहीं जाता, हंसकर बात को टाल देता। एक दिन मां बोली—तुम संतों के पास नहीं जाओगे तो मैं तुमसे बोलना बंद कर दूंगी। मां न बोले, यह बच्चे के लिए कठिनाई हो गयी। आखिर वे संतों के पास गए। उनको ऐसे संस्कार मिले, जिससे वे अच्छे श्रावक बन गए। मां की प्रेरणा ने कितना बड़ा काम कर दिया।

मुझे अपनी संसारपक्षीया मां याद आ रही है। उन्होंने मुझे संस्कार दिए। उनकी प्रेरणा मिली। उनके प्रयास से ही मुझे संतों की सन्निधि में आने का मौका मिला। अगर मां अपने साथ मुझे संतों के ठिकाने में नहीं ले जाती, साध्वियों के पास नहीं ले जाती तो पता नहीं मैं आज किस रूप में रहता। मां का बड़ा उपकार होता है।

एक गृहस्थ को भी सोचना चाहिए कि मेरे में चारित्र की शक्ति कितनी है। दो शब्द आते हैं वित्त और वृत्त। वित्त का अर्थ है—धन। वृत्त का अर्थ है—चारित्र। गृहस्थ को वित्त भी चाहिए तो वृत्त भी होना चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः।।

चारित्र की प्रयत्नपूर्वक सुरक्षा करनी चाहिए। धन तो आता है और चला जाता है। पर चारित्र की सुरक्षा पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। जो धन से क्षीण हो गया फिर भी वह अक्षीण है पर जो चारित्र से क्षीण हो गया, वह हत हो गया, पतित हो गया।

मैं पैसे का विरोध नहीं करता हूं। किन्तु गृहस्थ के लिए पैसा ही सब कुछ न हो जाए। चारित्र की भी सुरक्षा करने का प्रयास करना चाहिए। वित्त और वृत्त दोनों जीवन में होंगे तो जीवन की गाड़ी ठीक तरह चल सकेगी। आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया—चारित्र की संपन्नता से आदमी शैलेषी अवस्था को प्राप्त हो जाता है और चार अघात्य कर्मों का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

३१

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया——**सोइंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह से जीव क्या उत्पन्न करता है? उत्तर दिया गया——**सोइंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में राग-द्वेष का निग्रह करता है। राग-द्वेष से होने वाले कर्मों का बंधन नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर लेता है।

हमारे जीवन के साथ इन्द्रियां संयुक्त हैं। इन्द्रियां न हो तो जीवन की मूल्यवत्ता कितनी रहेगी। इन्द्रियां ज्ञान की माध्यम है। ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। आत्मा के द्वारा ज्ञान होता है। वहां फिर इन्द्रियों की भी अपेक्षा नहीं रहती। जैन तत्त्वविद्या के अनुसार केवलज्ञानी को अनिन्द्रिय कहा गया है। हालांकि केवलज्ञानी के आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियां होती हैं, किन्तु ज्ञान की दृष्टि से वहां इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती। इन्द्रियों के दो प्रकार हैं——द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय को औदयिक भाव और भावेन्द्रिय को क्षायोपशमिक भाव माना गया है। केवलज्ञानी में क्षायोपशमिक भाव नहीं होता, क्षायिक भाव होता है। इसलिए उन्हें सीधा आत्मा से ज्ञान होता है। कोई आदमी बहरा है यानी कान का यंत्र काम नहीं करता। फिर भी वह केवलज्ञानी बन सकता है। उसे सुनने के लिए कान की जरूरत नहीं होती। उसे सब कुछ स्वतः ज्ञात हो जाता है। कौन क्या बोल रहा है, कौन क्या

बोलेगा और कौन क्या बोल चुका, यह सब उसको ज्ञात होता है।

कोई आदमी अंधा है, वह भी केवलज्ञानी बन सकता है। अतीत में क्या हुआ, भविष्य में क्या होगा और वर्तमान में क्या हो रहा है, यह सब कुछ उसके सामने स्पष्ट रहता है। साहित्य में तीन शब्द आते हैं—सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट। जो अतीन्द्रिय ज्ञानी होते हैं, वे सूक्ष्म यानी जो आंखों के द्वारा अदृश्य होते हैं, उन्हें भी देख लेते हैं, जान लेते हैं। व्यवहित यानी व्यवधान के बाद जो कुछ हो रहा है, आमतौर से हम उसे नहीं जान पाते, किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानी व्यवधान के बाद यानी दीवार के उस पार क्या हो रहा है, उसे भी जान लेते हैं। विप्रकृष्ट अर्थात् बहुत दूर स्थित वस्तु को जान लेना। एक अतीन्द्रिय ज्ञानी लाडनूं में बैठा-बैठा अमेरिका में घटित होने वाली घटनाओं को जान लेता है। उसे यह ज्ञान अपनी आत्मा के द्वारा होता है। सूक्ष्म, व्यवहित और विपकृष्ट को जानना अतीन्द्रिय ज्ञानी का विषय है। परन्तु वैज्ञानिक अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि जो ज्ञान अतीन्द्रिय चेतना से होता है, वह कुछ अशों में यंत्रों के द्वारा भी हो सकता है।

सामान्यतया इन्द्रियां ज्ञान की माध्यम बनती हैं। यंत्रों के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रिय सापेक्ष है। यदि दूरदर्शन पर भी किसी दृश्य को देखना है तो आंख का होना अपेक्षित है। प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति के लिए वह दृश्य दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। जबकि अतीन्द्रिय ज्ञानी या केवलज्ञानी इन्द्रियों के बिना सहारे जान सकता है, धारणा कर सकता है। संसार के जितने भी जीव हैं, उनके विकास क्रम को इन्द्रियों के आधार पर निर्धारित किया गया है। जिसके जितनी इन्द्रियां होती है, उसका उतना विकास होता है। जिनमें एक ही इन्द्रिय होती है—त्वचा। उन प्राणियों का विकास न्यूनतम होता है, जैसे—मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति। विकास का क्रम कुछ आगे बढ़ा और त्वचा के साथ रसनेन्द्रिय का भी विकास हो गया। इनमें कृमि, लट आदि जीव आते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीवों में चींटी, मकौड़े आदि आते हैं। इनमें त्वचा, रसना के साथ घ्राण का भी विकास हो जाता है। चींटी में गंध ग्रहण करने की क्षमता अद्‌भुत होती है। गंध प्राप्त कर वह कहां से कहां पहुंच जाती है। फिर विकास क्रम में चक्षुरिन्द्रिय का विकास हुआ। इसमें मक्खी, मच्छर आदि जीव आते हैं। विकास का क्रम और आगे बढ़ा और श्रोत्र का विकास हो गया। पांच इन्द्रिय वाले जीवों में मनुष्य, देवता, नारक और तिर्यंच सभी जीव आ जाते हैं।

पांच इन्द्रियों की प्राप्ति के बाद इन्द्रियों के विकास की दृष्टि से विकास-क्रम समाप्त हो जाता है। परन्तु साधक का यह लक्ष्य रहे कि इन्द्रियों से भी ऊपर इन्द्रियातीत चेतना का विकास हो।

शास्त्रकार ने कहा कि श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करो। आदमी के पास कान है, यह तो सामान्य बात है। विशेष बात तब होगी जब कान का निग्रह करने का प्रयास किया जायेगा। कान हर समय खुले रहते हैं। यह प्रकृति की व्यवस्था है। आंखों को जब चाहें बंद कर सकते हैं पर कान के पास वह व्यवस्था नहीं है। रूई आदि डालकर कान को बंद किया जाए, यह अलग बात है। सामान्यतया कान बन्द नहीं होते हैं, खुले रहते हैं इसलिए कान में शब्द आते रहते हैं। कभी मनोज्ञ और कभी अमनोज्ञ शब्द सुनाई देते रहते हैं। मन के अनुकूल और प्रतिकूल शब्दों के प्रति राग-द्वेष न करने का अभ्यास करना ही श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह है। प्रस्तुत प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता में एक सुन्दर श्लोक कहा गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।

वशीभूत अंतःकरण वाला साधक राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ भी निर्मलता को प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों से कार्य किया जा सकता है, किन्तु राग और द्वेष से विमुक्त होकर इन्द्रियों को काम में लिया जाए, बस यही श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह की साधना है।

सामान्यतया आदमी जब प्रशंसा-युक्त शब्द सुनता है, तब उसे प्रसन्नता होती है, खुशी होती है और जब कठोर शब्द या उपालंभ सुनता है, तब मन में आक्रोश का भाव आ जाता है। किन्तु जिसका श्रोत्रेन्द्रिय-संयम का अभ्यास पुष्ट है, उसे प्रशंसा से ज्यादा खुशी नहीं होगी और उपालंभ से क्षोभ नहीं होगा, शांति बनी रहेगी। गणाधिपति गुरुदेव तुलसी ने 'अध्यात्म पदावली' नामक ग्रंथ में इसी तथ्य को प्रकट करते हुए लिखा है—

शक्य नहीं है शब्द न सुनना, खुले श्रोत्र के हैं जब द्वार।
शक्य यही है हो न शब्द में, द्वेष-राग का अनुसंचार।।

यह तो संभव नहीं हो सकता कि व्यक्ति शब्दों को सुने ही नहीं, चौबीस ही घण्टे कानों को बंद रखे। किन्तु यह संभव है कि कान में पड़ने वाले शब्दों

के प्रति राग-द्वेष न करे। जब आदमी को श्रवणशक्ति प्राप्त है तब वह उसका दुरुपयोग न करे, सदुपयोग करे। जो आदमी सन्तों से प्रवचन सुनता है, आगमवाणी सुनता है, सदाचार व नैतिकता की बातें सुनता है तो समझना चाहिए कि कान का सदुपयोग हो रहा है। जो व्यक्ति केवल मनोरंजन के लिए फिल्मीगाने सुनता है, कामोत्तेजक बातें सुनता है, कलहकारी बातें सुनता है, दूसरों की बुराई और स्वयं की प्रशंसा सुनना चाहता है तो समझना चाहिए कि कान का दुरुपयोग हो रहा है। चौबीस घण्टों में अधिकांश समय तो राग-द्वेष या संसार की बातों में ही व्यतीत हो जाता है। आधा घण्टा या एक घण्टा वैराग्य की बात को सुनने में लगाए तो राग और विराग में कुछ संतुलन स्थापित हो सकता है। केवल राग आत्मा के लिए तो नुकसानदेह है ही, व्यवहार की दृष्टि से भी नुकसानदेह हो सकता है। यदि जीवन केवल भोग-प्रधान, राग-प्रधान, विलास-प्रधान होगा तो वर्तमान जीवन में अशांति हो सकती है और अगली गति कैसी होगी, एक प्रश्नचिह्न लग सकता है।

जैन तत्त्वविद्या के अनुसार कान की जो दृश्य पौद्‌गलिक रचना है उसको द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है। द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। निर्वृत्ति का अर्थ है— आकार। आकार दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यंतर। बाह्य आकार सबका अपना-अपना होता है यानी अलग-अलग होता है, किन्तु आभ्यंतर आकार एक स्पर्शनेन्द्रिय को छोड़कर सबका एक समान होता है। उपकरण द्रव्येन्द्रिय में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की पौद्‌गलिक शक्ति होती है। भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—लब्धि और उपयोग। लब्धि यानी उपलब्धि। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से कान में सुनने की शक्ति प्राप्त होती है। उस शक्ति का जब प्रयोग किया जाता है, वह उपयोग भावेन्द्रिय है। लब्धि की दृष्टि से आदमी पंचेन्द्रिय होता है, किन्तु उपयोग की दृष्टि से आदमी एक इन्द्रिय वाला होता है। चूंकि एक समय में एक ही इन्द्रिय का प्रयोग किया जा सकता है। स्थूलदृष्टि से यह प्रतीत हो सकता है कि एक साथ अनेक इन्द्रियां काम करती हैं, किन्तु समय इतना सूक्ष्म होता है कि एक समय में एक साथ एक ही इन्द्रिय काम करती है। जब हमारा ध्यान सुनने में होता है, तब देखने में, सूंघने आदि में नहीं होता और जब देखने में होता है तब सुनने आदि में नहीं होता।

आदमी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ध्यानपूर्वक ज्ञान की बात को सुने, समझे और वैसा ही आचरण करने का प्रयास करे। आर्षवाणी में सुंदर कहा गया कि श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास करने से राग-द्वेष मुक्त होने का मौका मिलेगा। राग-द्वेष के कारण बंधने वाले कर्मों का बंध नहीं होगा और पुराने कर्मों की निर्जरा होगी।

३२

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**चक्खिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या निष्पन्न करता है? उत्तर दिया गया—**चक्खिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में राग-द्वेष का निग्रह हो जाता है। रूप में राग-द्वेष करने से बंधने वाले कर्मों से बचाव हो जाता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है।

आदमी के जीवन में आंख का बहुत मूल्य है। जिसके पास आंख न हो, उसके लिए दुनिया कितनी छोटी हो जाती है। हालांकि दुनिया तो जितनी है, उतनी ही रहती है, किन्तु वह देख नहीं पाता। आंख का अभाव बना रहता है। जब बाहर की आंख का इतना बड़ा मूल्य है तो भीतर की आंख का और अधिक मूल्य हो जाता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः,
तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम्।
एतद् द्वयं भुवि चकास्ति न यस्य सोऽन्धः,
तस्यापमार्गगमने खलु कोऽपराधः।।

विवेक एक आंख है और विवेकी व्यक्ति के संपर्क में रहना दूसरी आंख है। जिसके पास न विवेक की आंख है और न विवेक-संपन्न व्यक्ति की संगति

में रहने की आंख है, वह अन्धा होता है। ऐसा व्यक्ति यदि अपराध में जाए तो कौनसा आश्चर्य है? जिसके पास विवेक रूपी आंख होती है। उसके जीवन का पथ प्रशस्त हो जाता है। कई बार बाहर की आंख न होने पर भी विवेक की आंख आदमी को आगे ले जाती है, बहुत कुछ ज्ञान करा देती है।

एक प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति के पार्श्व से एक व्यक्ति गुजरा। उसने कहा—आंधिया बाबा! राम-राम। प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति—हां, दरोगा भाई राम-राम। कुछ समय पश्चात् दूसरा व्यक्ति आया और बोला—सूरदास बाबा! राम-राम। चक्षुविहीन व्यक्ति—हां, ठाकरां! राम-राम। उस प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति में विवेक चेतना जागृत थी। बाहर की आंख के साथ-साथ भीतर की आंख भी नितान्त आवश्यक होती है। व्यक्ति इन बाहरी आंखों पर संयम रखे। आंखों का असंयम अनेक रूपों में होता है। कुछ लोग आंखों के प्रति लापरवाह होते हैं। वे आंखों की सुरक्षा का पूरा ध्यान नहीं रखते। संभवतः एक कारण यही हो सकता है कि छोटी अवस्था में भी आंखों पर चश्मे लग जाते हैं। बच्चे पढ़ते हैं। कुछ बच्चे किताब को आंखों से बहुत निकट रखकर पढ़ते हैं। कुछ बहुत दूरी से पढ़ते हैं। कुछ रात्रि में मंद प्रकाश में पढ़ते हैं। टेलीविजन भी बहुत देखते हैं। अनेक ऐसे कारण हैं जो आंखों के लिए नुकसानदेह बन सकते हैं। इसलिए आदमी आंखों पर संयम रखे, विधि से पढ़े, मंद प्रकाश में न पढ़े और रात्रि में ज्यादा पढ़े ही नहीं तो आंखों की सुरक्षा हो सकती है, लम्बे काल तक रोशनी ठीक रह सकती है।

अध्यात्म की दृष्टि से चक्षु-संयम का मतलब है—रूप में राग-द्वेष न करना। आदमी की यह दुर्बलता होती है कि जैसे ही अच्छा या मनोज्ञ रूप सामने आता है, उसमें आसक्ति, राग या प्रियता का भाव आ जाता है। जब मन के प्रतिकूल रूप सामने आता है तो द्वेष का भाव आ जाता है। चक्षुरिन्द्रिय का निग्रह करने वाला व्यक्ति मनोज्ञ रूप में राग-भाव नहीं करता और अमनोज्ञ में द्वेष भाव नहीं करता। यह अभ्यास अध्यात्म की साधना है। आंखें खुली हैं तो रूप सामने आ सकते हैं, किन्तु उन रूपों के प्रति राग-द्वेष का भाव न आए। भारतीय साहित्य में कहा गया है कि व्यक्ति स्वपत्नी में संतोष रखे, ज्यादा मनोविकृति न करे। किन्तु जिसमें संयम नहीं होता, उसकी आंखें इधर-उधर दौड़ती रहती हैं। जहां कहीं कोई रूप दिखाई देता है, दृष्टि उधर टिक जाती है। यह आंख का असंयम है। पूज्य गुरुदेव तुलसी ने अपने ग्रंथ

'कर्तव्यषट्त्रिंशिका' में लिखा है—

भ्रूविक्षेपमनौचित्याद्, न सृजेदात्मयंत्रितः।
लोके हास्यं गृहे हानिः, येन भूयादचिंतिता।।

आत्म-नियंत्रित साधक को कभी अनुचित भ्रू-विक्षेप नहीं करना चाहिए। इससे दो नुकसान होते हैं। लोगों में तो हंसी होती है कि कितना असंयमी व्यक्ति है, हर किसी की ओर देखता रहता है और घर में हानि होती है यानी अपनी आत्मा का नुकसान होता है। इसलिए आदमी अपनी आंखों पर संयम रखे, अनावश्यक आंखों का विक्षेप न करे। जहां-जहां इन्द्रियों का असंयम होता है, वहां नुकसान होने की संभावना रहती है। प्रस्तुत सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में एक उदाहरण दिया गया है—

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं।।

जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रकाश-लोलुप पतंगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। पतंगा जैसे ही अग्नि को देखता है, पता नहीं उसमें अग्नि के रूप के प्रति कैसा आकर्षण होता है, वह अग्नि में गिरता है और अपना विनाश कर लेता है। जो रूप में अतृप्त होता है और उसके ग्रहण में आसक्त रहता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। असंतोष के कारण वह दुःखी बन जाता है। इसी प्रकार जो रूप में द्वेष करता है, वह भी अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। मात्र रूप में ही नहीं, शब्द, गंध, रस और स्पर्श में जो आसक्ति रखता है अथवा द्वेष करता है वह अपनी आत्मा का नुकसान करता है और साथ में जीवन का भी नुकसान हो सकता है। इसलिए इन्द्रिय संयम का अभ्यास करना चाहिए। व्यक्ति इन्द्रियों का दुरुपयोग न करे, सदुपयोग करे। जो व्यक्ति त्यागी महापुरुषों के दर्शन करता है, अच्छा साहित्य पढ़ता है, वैराग्य-वर्द्धक दृश्य देखता है तो समझना चाहिए कि आंखों का सदुपयोग हो रहा है। जो आदमी अश्लील साहित्य पढ़ता है, काम-भावना से दृष्टि प्रक्षेप करता है, कामोत्तेजक दृश्य देखता है तो समझना चाहिए कि आंखों का दुरुपयोग हो रहा है।

आदमी अपनी चक्षु-इन्द्रिय का सदुपयोग करे, त्राटक आदि ध्यान का प्रयोग करे। उसे विपथगामी न बनने दे। चक्षु का निग्रह करे। चक्षु इन्द्रिय के संयम से अथवा निग्रह से व्यक्ति चक्षु विषयक राग-द्वेष से बंधने वाले कर्मों से बच जाता है और पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा कर लेता है। इससे संयम की चेतना पुष्ट बनती है। संयम की चेतना के द्वारा आदमी का कल्याण होता है। उसका वर्तमान जीवन भी अच्छा बनता है और भावी जीवन यानी अगला जन्म भी अच्छा बनने की संभावना बनती है। मेरा यह मंतव्य है कि आदमी को केवल वर्तमान जीवन को ही नहीं देखना चाहिए, भावी का भी चिन्तन करना चाहिए कि मेरी गति क्या होगी? मैं कहां जाऊंगा? वर्तमान और भविष्य को देखते हुए अपनी जीवनशैली का निर्माण करे। ऐसा करने से कल्याण का पथ प्रशस्त हो सकेगा।

३३

घ्राणेन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**घाणिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे कि जणयइ?** भंते! घ्राणेन्द्रिय-निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**घाणिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** घ्राणेन्द्रिय-निग्रह से साधक व्यक्ति मनोज्ञ और अमनोज्ञ गंधों में राग-द्वेष का भाव नहीं करता। राग-द्वेष न करने से दो लाभ होंगे। पहला लाभ यह होगा कि मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध में राग-द्वेष करने से जो कर्म-बंध हो सकता था, वह नहीं होगा। दूसरा लाभ यह होगा कि मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध में राग-द्वेष करने से जो कर्म पहले बंधे हुए हैं, उनकी निर्जरा हो जाएगी।

प्राचीन साहित्य में चौरासी लाख जीवयोनियां बताई गई हैं। उनमें मानव की योनि श्रेष्ठ कही जाती है। श्रेष्ठ कहने के पीछे कुछ आधार भी हैं। पहला आधार यह है कि धार्मिक साहित्य में कहा गया है कि मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो भगवत्ता को प्राप्त हो सकता है, मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। दुनिया में मनुष्य के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई प्राणी नहीं है, जो सीधा भगवान बन सके। स्वर्ग में देवता होते हैं। वे अत्यन्त समृद्धि सम्पन्न होते हैं। वे भी सीधे भगवान नहीं बन सकते। उन्हें भी भगवान बनने से पहले इन्सान बनना होगा। इसलिए मानव योनि श्रेष्ठ है। मेरे पास दूसरा आधार यह है कि हम वर्तमान के वैज्ञानिक विकास को देखें, तकनीकी विकास को देखें। जो

अनुसंधान, शोध, नए-नए यंत्रों का निर्माण इन्सान ने किया है, वैसा अनुसंधान, शोध, निष्पादन क्या किसी पशु ने किया है? सैकड़ों-सैकड़ों वर्ष पहले जो पशु थे उनमें और आज पशु हैं उनमें क्या कोई अन्तर आया है? इसका मतलब है, आदमी के पास दिमाग है, प्रतिभा है, प्रज्ञा है, बुद्धि है, जिसके द्वारा अनुसंधान किया जा सकता है। हमारे पूर्वजों ने कल्पना भी नहीं की होगी कि कम्प्यूटर, मोबाइल फोन जैसे यन्त्र बनेंगे। पर आदमी ने यंत्रों का निर्माण कर लिया और विभिन्न प्रकार की सुविधाएं जुटा ली। वर्तमान में भी नए-नए अनुसंधान किए जा रहे हैं। इस अनुसंधानात्मक गुणवत्ता के आधार पर भी आदमी को श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो हमारी दृश्य दुनिया में सबसे अधम प्राणी भी आदमी ही है। आदमी में हिंसा के संस्कार हैं। यदि साधन सामग्री पास में हो तो एक आदमी जो नरसंहार कर सकता है, वैसा नरसंहार एक पशु नहीं कर सकता। इसलिए वह सबसे अधम प्राणी है। आदमी के पास श्रेष्ठता भी है और अधमता भी है। हम अधमता के संस्कारों को कम करने का और श्रेष्ठता के संस्कारों को उजागर करने का प्रयास करें। आदमी में असत् संस्कार हैं तो सत्संस्कार भी हैं। तमस है तो प्रकाश भी है। मरणधर्मिता है तो अमरत्व भी है। इसलिए कामना की गई है कि आदमी असत् से सत् की ओर, तमस से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर प्रस्थान करे।

आदमी के पास पांच इन्द्रियां हैं। उनमें से एक है—घ्राणेन्द्रिय यानी नासिका। अगर मुंह पर नाक न हो तो चेहरा कैसा लगेगा। नाक हमारे मुंह का सौन्दर्य बढ़ाता है। अपेक्षा है कि आदमी नाक का सदुपयोग करे। नाक से गंध को ग्रहण किया जाता है, किन्तु मात्र अच्छी-अच्छी सुगंध ही न ली जाए। नासिका का उपयोग साधना के क्षेत्र में किया जाए। भगवान महावीर की मुद्राओं का वर्णन मिलता है। भगवान साधना करते, तब उनकी दृष्टि नासाग्र पर टिकी रहती। योग-साधना में नाक के अग्रभाग पर ध्यान करने का विधान भी मिलता है। नाक के द्वारा श्वास लिया जाता है और छोड़ा जाता है। हम प्राणायाम का प्रयोग करें। आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। अष्टांग योग का उल्लेख करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

प्राणायामः प्राणयमः श्वासप्रश्वासरोधनम्।

श्वास का संयम करना प्राण का संयम है, प्राणायाम का प्रयोग है। पूरक, रेचक और कुंभक यानी श्वास लेना, छोड़ना और रोकना—ये योग साधना के अनेक प्रयोग हैं। अनेक लोग स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रातःकाल भ्रमण करते हैं। मेरा परामर्श है कि उस भ्रमण के साथ तीन बातें जुड़ जाए तो वह घूमना मात्र शारीरिक स्वास्थ्य के लिए नहीं, योग साधना की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण बन जाएगा। पहली बात—भ्रमण करते समय दीर्घश्वास का प्रयोग करें। दूसरी बात—चलते समय यह ध्यान रखें कि मेरे द्वारा किसी जीव की हिंसा न हो जाए। तीसरी बात—घूमते समय बिना मतलब विचारों के प्रवाह में न बहें।

घ्राणेन्द्रिय गन्ध-ग्रहण का साधन है। उससे सुगन्ध भी ली जा सकती है और दुर्गन्ध भी आ जाती है। साधक यह अभ्यास करे कि सुगन्ध आए तो रागभाव न करे और दुर्गन्ध आए तो द्वेषभाव न करे। यह समता की साधना है। प्रश्न हो सकता है कि सुगन्ध किसे कहा जाए और दुर्गन्ध किसे कहा जाए? इसका कोई एक समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि एक ही गन्ध किसी के लिए मनोज्ञ यानी सुगन्ध हो सकती है और किसी के लिए अमनोज्ञ यानी दुर्गन्ध हो सकती है। जैसे, जो व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट आदि पीता है और उसका धुंआ निकालता है। वह नहीं पीने वालों के लिए कठिनाई पैदा कर देता है जबकि पीने वालों को वह अच्छा लगता है। बीड़ी-सिगरेट आदि पीने वालों के लिए मेरा परामर्श है कि वे नशे को छोड़ने का प्रयास करें। यदि वह न छूटे तो कम-से-कम ऐसे स्थान पर न पीएं, जहां पीने से औरों को कष्ट हो। यदि एक बस में पचास व्यक्ति यात्रा कर रहे हों और उनमें से चार-पांच व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट पीने लग जाएं तो शेष पैंतालीस व्यक्तियों को कितनी तकलीफ हो सकती है। अतः आदमी नशामुक्त जीवन जीए। अपने मुंह और नाक का दुरुपयोग नहीं करे। जो व्यक्ति नाक के द्वारा प्राणायाम करता है, प्राणकेन्द्र पर ध्यान का प्रयोग करता है, समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा, दीर्घश्वास-प्रेक्षा आदि अनेक प्रकार के प्रयोग करता है तो वह नाक का सदुपयोग करता है। इस प्रकार की साधना करने से घ्राणेन्द्रिय-विजय की साधना हो सकती है। जो व्यक्ति सुगंध लेने में ही लगा रहता है, बार-बार इत्र सूंघता है, अन्य सुगंधित द्रव्यों में आसक्त रहता है। वह नाक का दुरुपयोग करता है। इसलिए साधक नाक से केवल सूंघे, किन्तु उसके प्रति राग-द्वेष का भाव न करे।

आर्षवाणी में सुन्दर कहा गया है कि घ्राणेन्द्रिय-निग्रह का अभ्यास करने से मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में राग-द्वेष का भाव नहीं होगा। राग-द्वेष के कारण बंधने वाले कर्मों का बंध नहीं होगा और पुराने कर्मों की निर्जरा हो जाएगी।

३४

जिह्वा-इन्द्रिय निग्रह से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**जिब्भिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**जिब्भिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस संबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

आदमी के पास पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान का माध्यम बनती है। कान से शब्द का बोध होता है। आंख से रूप का ज्ञान होता है। नाक से गंध का ज्ञान होता है। जिह्वा से रस का ज्ञान होता है और त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होता है। ये ज्ञानेन्द्रियां भी हैं तो साथ में भोगेन्द्रियां भी बन सकती हैं। हम कान से शब्द का भोग कर सकते हैं। आंख से रूप का भोग कर सकते हैं। नाक से गंध का भोग कर सकते हैं। जिह्वा से रस का भोग कर सकते हैं और त्वचा से स्पर्श का भोग कर सकते हैं। इसलिए इन्हें भोगेन्द्रियां भी कहा जा सकता है। जहां तक इन्द्रियां ज्ञान की माध्यम बनती है वहां तक वे पापकर्म का बंध कराने वाली नहीं होती। जहां राग-द्वेष का भाव साथ में जुड़ जाता है वहां फिर पापकर्म का बंध भी हो जाता है।

शास्त्रकार ने सुन्दर कहा कि जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करो। प्रश्न

हुआ, निग्रह करने से हमें क्या लाभ मिलेगा? आदमी को कोई काम करने से पहले लाभ-हानि पर विचार करना चाहिए। अमुक काम अगर मैं करूं तो लाभ क्या होगा? हानि क्या होगी? इस कार्य में प्लस प्वांइट कौनसे हैं और माइनस प्वाइंट कौनसे हैं? दोनों पर विचार कर, तुला पर तोलने से जिस कार्य में ज्यादा लाभ लगे या केवल लाभ लगे वह काम करणीय होता है। जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने का एक अर्थ है हम जिह्वा का उपयोग न करें। पर उपयोग न करने से काम नहीं चलता। जिह्वा है तो खाना-पीना भी पड़ेगा। इस शरीर की खुराक है—भोजन-पानी। वह नहीं मिलेगा तो यह ज्यादा समय तक टिक नहीं पायेगा। शरीर से काम लेना है तो उसे भाड़ा भी देना होगा। किसी कर्मचारी से काम लेना है तो उसको वेतन भी देना पड़ेगा। वेतन कुछ भी नहीं दिया जाये तो बेचारे कर्मचारी का शोषण हो जाता है। इसी प्रकार शरीर हमारा कर्मचारी है। वह कितना काम करता है। हम शरीर से काम तो लेते जाएं वापिस इसको भाड़ा नहीं दें, भोजन नहीं दें तो शरीर के साथ न्याय नहीं हो पायेगा और शरीर भोजन तो ले साथ में काम न दे, हमारा काम न करे तो शरीर के द्वारा आत्मा के साथ एक तरह से अन्याय हो जाता है।

जिह्वा भोजन का माध्यम है। हम भोजन करते हैं उसमें स्वाद जिह्वा से आता है। स्वाद में आनन्द भी आता है। मनोज्ञ भोजन आ गया तो कितना बढ़िया लगता है, कितना रस आता है और अमनोज्ञ, अप्रिय भोजन आ गया तो आदमी का मन खराब हो जाता है। आदमी का आकर्षण जिस वस्तु के प्रति हो वह वस्तु मिल जाये तो आनन्द आता है। शास्त्रकार ने कहा—जिह्वा का संयम करो। खाने-पीने में ज्यादा आनन्द मत लो। शरीर को भाड़ा चुकाने का लक्ष्य रखो न कि आनन्द लो। संस्कृत साहित्य में कहा गया कि साधु को आहार कैसे करना चाहिए। जैसे—सांप सीधा बिल में जाता है, वैसे ही आहार मुंह से सीधा नीचे उतार लो, स्वाद लेकर, रस लेकर खाने का प्रयास मत करो। यह साधक की साधना है। यह जिह्वा-इन्द्रिय का संयम है। कभी-कभी मन के प्रतिकूल भी भोजन आ जाए तो उसमें भी समता रखो, राग-द्वेष मत करो। आदमी जहां जाए वहां के भोजन में मस्त रहे। अन्य भोजन की लालसा, इच्छा नहीं करे। जो भोजन मिले उसे शांत भाव से करे। कोई व्यक्ति मेवाड़ में प्रवासित है और थली के भोजन

को याद करे और कोई व्यक्ति थली में है और मेवाड़ के भोजन को याद करे तो कैसे काम चलेगा। जहां रहे वहां जो मिले उसमें संतोष करे, यह जिह्वा-इन्द्रिय का संयम है।

शास्त्रकार ने कहा कि जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से पापकर्म का बंध नहीं होगा। जो पापकर्म का बंध जिह्वा-इन्द्रिय के असंयम से हो सकता है उस पापकर्म के बंध से बच जाओगे और संयम का अभ्यास करने से पुराने कोई पापकर्म बंधे हुए हैं वे भी कमजोर पड़ जायेंगे, कुछ निर्जीण हो जायेंगे। अतः आदमी को भोजन के संदर्भ में विवेक से काम लेना चाहिए।

३५

स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह से क्या मिलेगा ?

प्रश्न किया गया—**फासिंदियनिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**फासिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श संबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

स्पर्श-इन्द्रिय एक ऐसी इन्द्रिय है जो छोटे जीवों में भी होती है, पेड़-पौधों में भी होती है, पृथ्वी, पानी आदि में भी होती है और मनुष्य में तो होती ही है। स्पर्श आठ प्रकार का होता है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश। इन स्पर्शों में चाहे मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ हो। मनोज्ञ हो तो प्रियता या राग भाव नहीं करने और अमनोज्ञ हो तो अप्रियता या द्वेष भाव नहीं करने की साधना एक साधक को करनी चाहिए।

शरीर है तो स्पर्श भी होगा। गर्मी के मौसम में ठंडी हवा चलती है तो अच्छी लगती है। सर्दी के मौसम में धूप अच्छी लगती है, सुहावनी लगती है। मौसम के अनुरूप शरीर को भी अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्श होने का अनुभव होता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा गया—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।

श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे कुन्तीपुत्र! कोई स्पर्श शीत है, कोई उष्ण है, कोई स्पर्श सुख देने वाला है और कोई स्पर्श दुःख देने वाला हो सकता है। ये आते हैं और चले जाते हैं, अनित्य हैं। इनको तुम सहन करो। यह सहन करना ही साधना है। दसवेआलियं सूत्र में कहा गया—

कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए।।

कान को सुख देने वाले शब्दों में राग नहीं करना चाहिए और शरीर को असुहावने लगने वाले दारुण व कर्कश स्पर्श का अनुभव होने पर उसे सहन करना चाहिए। मन को दुर्बल नहीं करना चाहिए, द्वेष भाव नहीं लाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी ज्ञातव्य है कि शब्द, रूप, गंध, रस भी अनुकूल या प्रतिकूल हो तो उसमें समभाव की साधना करनी चाहिए। प्रस्तुत प्रसंग में स्पर्शों को झेलने का अभ्यास होना चाहिए। आदमी कुछ गर्मी को भी सहन कर सके और सर्दी को भी सहन कर सके। साधु को विशेष रूप से परीषहों को जीतने का अभ्यास होना चाहिए। संत लोग नीचे भूमि पर सो जाते हैं। जो लोग गद्दों पर सोने वाले हैं, उन्हें भूमि पर सोने के लिए कहा जाए तो कठिनाई हो सकती है। न केवल साधु को, एक कार्यकर्ता जिसको समाज में, गांवों में काम करना है, को भी कठोर स्पर्श झेलने का अभ्यास होना चाहिए। उसे सोने के लिए कभी भूमि मिल सकती है और कभी पलंग भी मिल सकता है। भोजन में कहीं अच्छे पकवान मिल सकते हैं, कहीं सामान्य-सा भोजन मिल सकता है। कहीं स्वागत किया जाता है, शॉल ओढ़ाया जाता है, मालाएं पहनाई जाती हैं और कहीं कुछ भी नहीं होता अथवा कहीं निन्दा भी की जा सकती है। कार्यकर्ता को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिए। सहन करने का अभ्यास है तो कार्यकर्ता अच्छा काम कर सकता है अन्यथा मन कमजोर हो जाता है और आदमी काम करना छोड़ भी सकता है। इसलिए आदमी के पास सहन करने की शक्ति का विकास होना चाहिए।

आदमी के पास स्पर्श-इन्द्रिय है यानी शरीर है। इस शरीर के द्वारा परोपकार भी किया जा सकता है और दूसरों का नुकसान भी किया जा सकता है। भर्तृहरि ने नीति शतकम् में सुन्दर कहा है—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति कायः करुणापराणां, परोपकारैर्न तु चन्दनेन।।

कान का आभूषण है ज्ञान सुनना, कुण्डल नहीं। वह तो बाह्य आभूषण है। हाथ का आभूषण है दान देना, कंगन नहीं। वह भी बाह्य आभूषण है। जो करुणाशील लोग हैं उनके शरीर का आभूषण है—परोपकार, दूसरों की सेवा करना। चन्दन का लेप लगाना नहीं।

आदमी सर्दी-गर्मी आदि स्थितियों को सहन करने का अभ्यास करे। इस शरीर को भोगी भी बनाया जा सकता है और शरीर को योगी भी बनाया जा सकता है। भोग भोगने से शरीर भोगी बन जायेगा और शरीर से योग साधना करने पर शरीर योगी बन जायेगा।

एक दार्शनिक से पूछा गया—एक आदमी को जिंदगी में भोग-संभोग कितनी बार करना चाहिए?

दार्शनिक—जिंदगी में एक बार काफी है।

युवक—यह तो बहुत कठिन बात है।

दार्शनिक—वर्ष में एक बार।

युवक—यह भी मुश्किल है।

दार्शनिक—महीने में एक बार।

युवक—यह भी कठिन है।

दार्शनिक—कफन सिर के पास रख लो, फिर चाहो सो करो।

इस बात में कुछ अतिवाद भी हो सकता है। किन्तु आदमी को इतना-सा सार निकालना चाहिए कि भोग की भी सीमा करनी चाहिए। एक व्यक्ति को स्वपत्नी संतोषी/स्वपति संतोषी होना चाहिए। जिससे भोग में एक सीमा हो जाती है। यह सीमा भी एक साधना है। आदमी यह ध्यान रखे, इस शरीर को केवल भोगी ही न बनने दे, इसके द्वारा योग साधना भी करे, अध्यात्म की साधना भी करे।

अध्यात्म की साधना का सार यही है कि आदमी इन्द्रियों और मन का संयम करे। इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष का निग्रह करे। जिससे वह तन्निमित्तक कर्म का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

३६

क्रोध-विजय से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**कोहविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! क्रोध विजय से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** क्रोध विजय से क्षमा का भाव उत्पन्न होता है, क्रोध वेदनीय कर्म का बंधन नहीं होता और पूर्वबद्धकर्म की निर्जरा हो जाती है।

गुस्सा करना आदमी का स्वभाव नहीं है, परन्तु स्वभाव जैसा बना हुआ है। यदा-कदा मन के प्रतिकूल बात होती है तो गुस्सा आ जाता है और कभी-कभी वह शब्दों के द्वारा प्रकट भी हो जाता है। चेहरे पर भी उसका असर हो जाता है। आंखें लाल हो जाती है। चेहरा अदर्शनीय-सा बन जाता है। किन्तु विवेक संपन्न आदमी गुस्से को मन तक सीमित रख लेता है। वीतराग पुरुष तो सर्वथा कषाय मुक्त होते हैं। इसलिए वे कभी गुस्सा नहीं करते। उनका चेहरा कितना सुन्दर लगता है। श्रीमज्जयाचार्य ने 'चौबीसी' में तीर्थंकर के लिए कहा है—**इन्द्र थकी अधिका ओपै, करुणागर कदेय नहीं कोपै।।**

तीर्थंकर इन्द्र से भी अधिक सुशोभित होते हैं, अच्छे लगते हैं, सुन्दर लगते हैं। वे करुणा के सागर होते हैं, कभी गुस्सा नहीं करते। किन्तु सामान्य आदमी के लिए गुस्सा स्वभाव जैसा बना हुआ है। उसे समाप्त करना एक साधना है और इसी का नाम है—क्रोध-विजय। दसवेआलियं में कहा गया है—**उवसमेण हणे कोहं** उपशम के द्वारा गुस्से को जीतना चाहिए। प्रतिपक्ष

भावना से पक्ष का नाश होता है। गुस्सा पक्ष है और उसका प्रतिपक्ष है उपशम। गुस्से के कारण व्यक्ति स्वयं दुःखी बनता है और आसपास रहने वाले लोग भी उसके निमित्त से दुःखी बन जाते हैं। परिवारों में अशांति या कलह का वातावरण बनता है। उसके अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से एक कारण है—गुस्सा। बात-बात में गुस्सा करने से सामने वाला व्यक्ति भी अशान्त या दुःखी बन जाता है। परिवार में कोई गुस्सेल स्वभाव वाला व्यक्ति हो तो दूसरे लोग उसकी प्रकृति को समझकर शांत रहे तो वह भी शांत हो सकता है। नीतिशास्त्र में कहा गया है—**अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति** जहां अग्नि गिरती है, वहां नीचे कोई तृण, घास आदि कुछ नहीं है तो आग अपने आप शान्त हो जाएगी। यदि घास, तृण आदि पर अग्नि गिरेगी तो वह भभक जाएगी, और अधिक प्रज्वलित हो जाएगी। परिवार में शांति रहे, इसलिए गुस्से पर नियंत्रण करना अपेक्षित है। जब सबको साथ में रहना है तो फिर शांति से रहना चाहिए। यदि दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी दोनों ही क्रोधी स्वभाव के होते हैं तो आए दिन उनमें झगड़ा होता रहता है, घर में महाभारत छिड़ सकता है और अशांत वातावरण बन जाता है। दाम्पत्य जीवन में लम्बे काल तक सुख और शांति बनी रहती है तो मानना चाहिए कि उन्होंने एक बड़ी साधना की है। अध्यात्म की साधना का सार है कि व्यक्ति कषाय को जीतने का अभ्यास करे। कषाय-मुक्ति से ही मुक्तिश्री का वरण हो सकेगा। कषाय के मुख्य रूप से चार प्रकार बताए गए हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। साधक क्रोध कषाय को जीतने का अभ्यास करे। उस पर विजय प्राप्त करने के कई उपाय हो सकते हैं, जैसे—

- उपशम भाव की अनुप्रेक्षा
- दीर्घश्वास का अभ्यास
- संकल्प शक्ति का प्रयोग
- ज्योतिकेन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान
- शान्त स्वभाव वाले महापुरुषों का स्मरण

आचार्यप्रवर के पास शादी होने के बाद जब नया जोड़ा दर्शनार्थ आता, तब यदा-कदा पूज्यप्रवर उन्हें शिक्षा फरमाते कि तुम दोनों एक दूसरे को सहन करने का अभ्यास रखना। सहिष्णुता के विकास से तुम्हारा शांत सहवास बना

रह सकेगा। हालांकि क्रोध को जीतना कठिन कार्य है, किन्तु सलक्ष्य प्रयास किया जाए तो सफलता मिल सकती है। साधुओं की ओर दृष्टिपात करें तो मेरा मंतव्य है कि जो शांत होता है, वही सन्त होता है। जो अशान्त होता है, वह सन्त नहीं होता अथवा उसकी सन्तता की साधना में कुछ कमी होती है। इस भारतभूमि पर कितने-कितने ऋषि-महर्षि हुए हैं। कई लोग तो गृहस्थ जीवन में भी सन्त जैसे हुए हैं। उनके जीवन से भी गुस्सा मुक्त रहने की प्रेरणा ली जा सकती है।

मुझे जैन रामायण का प्रसंग याद आ रहा है। जब रामचंद्रजी, लक्ष्मणजी और सीताजी वनवास में थे। तब एक बार सीताजी को बहुत प्यास लग गई। आसपास कहीं पानी दिखाई नहीं दिया। तीनों आगे बढ़े। एक गांव मे पहुंच गए। ब्राह्मण का घर था। घर में ब्राह्मण नहीं था, अकेली ब्राह्मणी थी। उसने देखा कि अतिथि आए हैं। हमारी भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवता के समान पूज्य माना गया है। हमारी साधु संस्था में भी आतिथ्य होता है। कोई सिंघाडा बाहर से आता है तो पहले से अवस्थित सिंघाडा चाहे साधुओं का हो या साध्वियों का। उसका कर्तव्य है कि वह आगन्तुक सिंघाडे की भक्ति करे, उनका आतिथ्य करे। उनके लिए गोचरी, पानी आदि लाए। उनके लिए स्थान की व्यवस्था करे। यह आतिथ्य का क्रम हमारे यहां चलता है। गार्हस्थ्य में भी कोई मेहमान घर में आता है तो उसको बिठाना, खिलाना, पिलाना आदि व्यक्ति का सामान्य कर्तव्य होता है। उस ब्राह्मणी ने भी रामचन्द्रजी आदि तीनों की बड़ी आवभगत की। इतने में ही ब्राह्मण आ गया। ब्राह्मणी जितनी भली थी, ब्राह्मण उतना ही तेज था। उसने घर में आते ही पत्नी से कहा—तुमने किसको घर में बिठा रखा है? ये मैले कुचेले कपडों वाले कौन आ गए ? इनको घर में स्थान देकर तुमने बहुत गलत काम किया है। ब्राह्मण को इतना भयंकर गुस्सा आया कि जलती हुई लकड़ी लेकर आया और बोला—आज तेरा मुंह जला दूंगा। ब्राह्मणी तो डर गई। वह सीताजी के पास जाकर खड़ी हो गई। लक्ष्मणजी को भी गुस्सा आ गया। उन्होंने लकड़ी सहित ब्राह्मण को आकाश में घुमाया। ब्राह्मण भयभीत होकर चिल्लाने लगा। तब रामचन्द्रजी ने कहा—भैया लक्ष्मण! इसे छोड़ दो। भाई की आज्ञानुसार लक्ष्मणजी ने ब्राह्मण को छोड़ दिया। ब्राह्मण रामचंद्रजी के चरणों में गिर गया और क्षमायाचना की।

धर्म का यह संदेश है कि आदमी शांति से जीना सीखे, गुस्से पर नियंत्रण रखना सीखे। धर्म का एक परिणाम यह होना चाहिए कि आदमी का गुस्सा शांत हो जाए और स्वभाव अच्छा रहे। प्रेक्षाध्यान के शिविरों में ऐसे लोग भी आते हैं, जो गुस्सेल होते हैं, किन्तु प्रयोग करने से, साधना करने से कइयों का गुस्सा शांत हो जाता है। ठाणं सूत्र में क्रोध उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं—**खेत्तं पडुच्च, वत्थुं पडुच्च, शरीरं पडुच्च, उवहिं पडुच्च** अर्थात् क्षेत्र यानी खुली जमीन, वस्तु, शरीर और उपकरण—इन चार निमित्तों से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध तभी उत्पन्न होगा, जब इन पर आसक्ति होगी। इसलिए अनासक्ति की अनुप्रेक्षा के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

क्रोध पर विजय प्राप्त करने से तीन लाभ होंगे। पहला लाभ बताया गया है कि शांति का भाव पैदा होगा, आदमी में सहन करने की क्षमता का विकास होगा। दूसरा लाभ बताया गया है कि गुस्सा करने से जिन कर्मों का बंधन हो सकता है, उस बंधन से बचाव हो जाएगा और तीसरा लाभ बताया गया है कि क्रोध को जीतने की साधना करने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होगी। इसलिए आदमी गुस्से को जीतने का अभ्यास करे और क्रोध विजेता बनकर चेतना को पवित्र बनाने का प्रयास करे।

३७

मान-विजय से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**माणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! मान विजय से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्म न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** मान-विजय से मार्दव उत्पन्न होता है, मान वेदनीय कर्म का बंधन नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा हो जाती है।

चार कषायों में दूसरा कषाय है—मान। मान आदमी की एक वृत्ति है। जब कुछ प्राप्त हो जाता है, तब आदमी को अहंकार भी आ जाता है। यह आदमी की दुर्बलता है कि वह थोड़ा प्राप्त कर अहंकार करने लगता है। जिसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, वह कभी अहंकार नहीं करता। अहंकार के अनेक स्थान हैं। आदमी उच्च जाति का अहंकार कर सकता है। मेरे पास बहुत ज्ञान है, इसका भी अहंकार हो सकता है। उच्च कुल का भी अहंकार हो सकता है। एक बार कोई व्यक्ति मंदिर में पूजा करने जा रहा था। वह उच्च कुल का था। मार्ग में कोई चंडाल उससे टकरा गया। उस व्यक्ति को बहुत गुस्सा आया और बोला—मैं मंदिर में पूजा करने जा रहा था। तुमने मुझे भ्रष्ट कर दिया, अपवित्र बना दिया। चंडाल व्यक्ति ने कहा—भाई! मैं तो जाति से चंडाल हूं। मेरे भीतर अभी न आवेश है, न गुस्सा है। असली चंडाल या भावात्मक चंडाल तो आपके भीतर बैठा है। आपको कितना गुस्सा आ रहा है। यह गुस्सा चंडाल नहीं है क्या? पहले आप इसे दूर करें। फिर उच्च जाति का अभिमान करें।

सत्ता का भी अहंकार हो सकता है। आदमी सोचता है कि मेरे पास सत्ता है। मैं चाहूं वैसा कर सकता हूं अथवा सत्ता मेरे निकट के व्यक्ति के पास है। मैं उसके द्वारा कुछ भी काम करवा सकता हूं। यह बात मध्यमस्तर या निम्नस्तर वाले व्यक्ति सोचते हैं। आदमी में अहंकार है या नहीं, इसकी पहचान कैसे की जा सकती है? अगर आदमी के मन में सम्मान पाने की भावना है, अधिकार पाने की भावना है, सत्ता पाने की भावना है अर्थात् बड़ा बनने की भावना है तो समझना चाहिए कि उसमें अहंकार है। जिसमें अहंकार नहीं होता है, उसमें बड़ा बनने की भावना भी नहीं होती है।

शास्त्रकार ने सुन्दर कहा है कि मान-विजय से तीन लाभ होते हैं। पहला लाभ बताया गया है कि मान-विजय से मार्दव यानी मृदुता उत्पन्न होती है। व्यवहार में मृदुता, वाणी में मृदुता और चिन्तन में मृदुता आ जाती है। मृदुता जीवन का एक बड़ा गुण होता है। दूसरा लाभ बताया गया है कि मान वेदनीय कर्म का बंध नहीं होता। जो अहंकार करता है, उसके मान वेदनीय कर्म का बंधन होता है। इसलिए मान पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद मान के रूप में बंधने वाला मान वेदनीय कर्म नहीं बंधता। तीसरा लाभ बताया गया है कि कोई पुराना मान वेदनीय कर्म बंधा हुआ होता है, उसकी निर्जरा हो जाती है, वह क्षीण हो जाता है।

आदमी में ज्ञान होता है और साथ में अहंकार आ जाता है तो संस्कृत साहित्य में कहा गया **ज्ञानाजीर्णमहंकृतिः** यानी अहंकार तो ज्ञान का अजीर्ण है। जैसे कभी-कभी कुछ ज्यादा खा लेने से अजीर्ण हो जाता है, वह तो भोजन का अजीर्ण है। ज्ञान का अजीर्ण तब होता है, जब अहंकार आ जाता है। भोजन का अजीर्ण होने पर उसकी एक दवा है—पानी अधिक पीना और ज्ञान के अजीर्ण की दवा है—खूब विनम्रता रखना। अहंकार विलय और नम्रता मात्र छोटों में ही नहीं बड़ों में भी होनी चाहिए।

चीन के महान सन्त, दार्शनिक कन्फ्यूसियस जंगल में बैठे थे, चिन्तन में लीन थे। चीन का सम्राट उधर से गुजरा और वहां रुक गया। सम्राट ने कन्फ्युसियस से पूछा—तुम कौन हो?

कन्फ्युसियस—मैं सम्राट हूं।

सम्राट—सम्राट तो मैं हूं।

कन्फ्युसियस—सम्राट होने का प्रमाण क्या है?

सम्राट—मेरे पास सैनिक हैं, सेवक हैं, धन-वैभव है।

कन्फ्युसियस—सेना तो उसको चाहिए, जिसके शत्रु होते हैं। मेरा कोई शत्रु नहीं है, इसलिए मुझे सेना की जरूरत नहीं है। सेवक भी उसको चाहिए, जो आलसी हो या असमर्थ हो या फिर कोई दूसरा कारण हो किन्तु मैं तो सक्षम हूं, स्वावलम्बी हूं, परिश्रमी हूं इसलिए मुझे सेवक की जरूरत नहीं है। धन-वैभव उसको चाहिए जो दरिद्र हो। मेरे पास संतोष रूपी महान् धन है। मुझे ठाट-बाट की जरूरत नहीं है। यह सुनकर सम्राट का सिर झुक गया।

सत्ता में आने वाला व्यक्ति सत्ता का मद न करे। यदि लोकतंत्र में कोई सत्ता में आए तो उसे चिन्तन करना चाहिए कि जनता ने मुझे चुना है, जनप्रतिनिधि बनाया है तो सेवा के लिए बनाया है न कि एशोआराम करने के लिए या अपना घर भरने के लिए बनाया है। राजनीति के बारे में मेरा विचार है कि राजनीति कोई बुरी नहीं है, अप्रशस्य नहीं है। राजनीति तो समाज और देश की जरूरत है। उससे देश की व्यवस्थाएं ठीक होती हैं। ध्यातव्य बात यह है कि राजनीति में आने वाले लोग कैसे हैं? यदि राजनीति में अच्छे लोग आते हैं तो अच्छा काम हो सकता है, देश की सेवा हो सकती है। उनकी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था हो और मृदुतापूर्ण व्यवहार हो तो अच्छा कार्य हो सकता है।

अहिंसा-यात्रा के दौरान आचार्यप्रवर जगह-जगह पधारे। जहां बड़े-बड़े नगरों में पधारे, वहीं छोटे-छोटे गांवों में भी पधारे। जहां देश के शीर्षस्थ व्यक्ति मिलने के लिए आए, वहीं अन्तिम श्रेणी में जीने वाले आदिवासी लोगों से भी मिलना हुआ। विभिन्न संप्रदायों से जुड़े हुए धर्मगुरुओं से मिलना हुआ। मैंने देखा कि सबके साथ आचार्यश्री का मृदुतापूर्ण व्यवहार था। आचार्यवर मौखिक शिक्षा देते या नहीं देते, मात्र उनके व्यवहार को देखकर भी बहुत कुछ सीखा जा सकता था कि दूसरों के साथ हमारा व्यवहार कितना शालीन, कितना शांतिपूर्ण और कितना मृदुतापूर्ण होना चाहिए। मृदुता दूसरों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। मृदुता जीवन में आ जाए तो अनेक

समस्याओं से बचाव हो सकता है और जो समस्याएं आ चुकी हैं, उनका समाधान भी हो सकता है। आदमी अहंकार को छोड़ने का और मृदुतापूर्ण व्यवहार करने का प्रयास करे तो वह उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकेगा।

३८

माया-विजय से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**मायाविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! माया-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है? उत्तर दिया गया—**मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** माया-विजय से वह ऋजुता को उत्पन्न करता है, माया वेदनीय कर्म का बन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

आदमी में अनेक वृत्तियां होती हैं। उनमें से एक वृत्ति है माया। आदमी अपनी चतुराई से दूसरों को ठगने का प्रयास करता है और भोले-भाले लोगों को फंसा लेता है। आदमी अपनी चतुराई का प्रदर्शन किसी की भलाई में करे, ठगने में नहीं। प्रश्न हो सकता है कि माया को कैसे जीता जा सकता है? दसवेआलियं में कहा गया—**माया चज्जवभावेण** ऋजुता के अभ्यास से माया की वृत्ति कमजोर हो सकती है। माया मित्रों का नाश करने वाली होती है। जब आदमी को यह ज्ञात हो जाता है कि जिसे मैं मित्र मान रहा हूं, वह मुझे धोखा दे रहा है तो फिर अन्तर्मन की मित्रता नहीं रहेगी। इसलिए ऋजुता का अभ्यास करना चाहिए। माया असत्य से जुड़ी हुई है। असत्य और माया का जोड़ा है। सत्य और ऋजुता का जोड़ा है। ऋजुता नहीं है तो सत्य की साधना नहीं हो सकती। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया है—

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रिया।
धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते॥

जो बात चित्त में है वही बात वाणी में आए और जो बात वाणी से कही गई है, वही आचरण में आए। मन, वचन और काया में जिनके एकरूपता है यानी विसंवाद नहीं है वे लोग धन्य होते हैं।

जिसने सचाई और ऋजुता की साधना कर ली, उसने बहुत बड़ी आराधना कर ली। प्राचीनकाल में यज्ञों का बहुत महत्त्व माना गया था। यज्ञ परम्परा में अश्वमेध यज्ञ का विशिष्ट स्थान था। यह यज्ञ सामान्य आदमी नहीं कर सकता था, केवल सम्राट या चक्रवर्ती ही कर सकते थे। इस यज्ञ में विभिन्न देशों में जो घोड़े घूमकर आते थे, उन घोड़ों को मारकर उनकी चर्बी से हवन किया जाता था। इसलिए उसका नाम पड़ गया—अश्वमेध। अश्वमेध यज्ञ का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक महत्त्व है सत्य का। कहा भी गया है—

यस्य सत्यं च शौचं च, तस्य स्वर्गो न दुर्लभः।
सत्यं हि वचनं यस्य, सोऽश्वमेधात् विशिष्यते।।

यज्ञ के पीछे स्वर्ग की कामना हो सकती है। जिसने सत्य और पवित्रता की साधना कर ली, उसके लिए स्वर्ग दुर्लभ नहीं है। जिसकी वाणी में सत्य आ गया, वह तो अश्वमेध यज्ञ से भी विशिष्ट हो जाता है यानी उसकी सचाई के सामने तो अश्वमेध यज्ञ भी छोटा पड़ जाता है। सत्य के द्वारा आदमी का मन शुद्ध बनता है। यह भी कहा गया है—

अद्भिः शुध्यन्ति गात्राणि, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।
अहिंसया च भूतात्मा, मनः सत्येन शुध्यति।।

पानी से शरीर की शुद्धि होती है। ज्ञान से बुद्धि का शोधन होता है। अहिंसा से भूतात्मा शुद्ध होती है और आदमी का मन सत्य से शुद्ध होता है। वाणी के संदर्भ में एक निर्देश दिया गया—**सत्यपूतां वदेत् वाचम्** सत्य के द्वारा पवित्र की गई वाणी का प्रयोग करना चाहिए। सरलता या सचाई का संकल्प जीवन में आ जाता है तो धर्म का, शांति का, सुख का बड़ा आधार हस्तगत हो जाता है।

समझदार आदमी को दो पाप कभी नहीं करने चाहिए। यदि कभी एक पाप करना भी पड़े यानी कोई गलत कार्य करना भी पड़े तो उसको अस्वीकार कर अथवा झूठ बोलकर दूसरा पाप कभी नहीं करना चाहिए। जैन आगम में कहा गया—**बिइया मंदस्स बालया** यह अज्ञानी आदमी की दूसरी

मूर्खता होती है। झूठ बोलकर अपनी भूल को छिपाना दूसरी नासमझी होती है। आदमी जो कुछ करे, साफ-साफ करे, लुकाव-छिपाव न करे। यह सरलता बहुत बड़ा कवच है, बहुत बड़ी शुद्धि की साधना है। यदि सरलता और सचाई जीवन में आ गई तो मेरा मंतव्य है कि बहुत बड़ी शक्ति आ गई। किन्तु कठिनाई यह है कि छलना-वंचना तो आदमी सरलता से, आसानी से सीख लेता है पर सरलता को रखना कइयों के लिए बड़ा कठिन होता है।

छोटे बच्चों में कितनी सरलता होती है और उनकी सरलता बड़ी आकर्षक भी होती है। कल्पना करें कि एक छोटा बच्चा अपने दादा की गोद में बैठा है और कभी-कभी अपने कोमल हाथों से दादा की दाढ़ी-मूंछ भी खींच लेता है। फिर भी दादा को गुस्सा नहीं आता बल्कि आनन्द आता है। किन्तु बच्चे की जगह यदि बच्चे का पिता आकर दाढ़ी को खींचना शुरू कर दे तो? संभवतः सहन नहीं होगा। क्योंकि बच्चे में सरलता होती है। हालांकि इस बौद्धिक और वैज्ञानिक युग में बच्चों की सरलता भी जल्दी ही गायब हो जाती है। प्राचीनकाल के दस-बारह वर्ष के बच्चे का बौद्धिक विकास, वर्तमान में छह-सात वर्ष के बच्चे का बौद्धिक विकास बराबर अथवा कुछ अधिक होता है। बच्चे में सरलता के साथ नादानी यानी अज्ञानता भी होती है। उसकी अज्ञानता तो छोड़ने योग्य है और सरलता ग्रहण करने योग्य है।

साधु जीवन भर सचाई की साधना करे। थोड़ा कष्ट आ जाए तो आने दे पर सचाई को न छोड़े। यह अलग बात है कि साधु से भी कदाचित कोई गलत बात निकल सकती है किन्तु साधु का धर्म यह है कि वह सत्य महाव्रत के प्रति जागरूक रहे और अपनी वाणी से गलत बात न करे। एक मुनि के लिए तो इतना सूक्ष्म ध्यान देने के लिए निर्देश दिया गया है कि जैसे—मैं जाऊंगा, ऐसा मत कहो। मेरा जाने का भाव है, ऐसा कहो। मैं खाऊंगा, ऐसा मत कहो। मेरा खाने का भाव है, ऐसा कहो। निश्चयकारिणी भाषा मत बोलो। हर बात में संभवतः, आसरे, शायद आदि शब्दों का प्रयोग करो, जिससे दोष न लग जाए। यह सचाई के प्रति जागरूकता का अभ्यास है। सत्यवादी के लिए अपेक्षा है कि वह वाचालता न करे। बहुभाषिता सत्य का पलिमंथु यानी शत्रु है और सचाई की साधना में एक बाधा है। इसलिए जिस आदमी को सत्य की साधना करनी है, उसे

अल्पभाषी होना चाहिए। बात को व्यर्थ में लम्बा करना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होता। जो बात दो मिनट में कही जा सकती है, उसके लिए दस मिनट लगा देना, सामने वाले व्यक्ति के समय का अपव्यय करना और निस्सार बोलना वाणी का दोष है। आदमी सरलता और सत्यता को बनाए रखने का प्रयास करे तो जीवन में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हो सकती है।

३९

लोभ-विजय से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**लोभविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।** लोभ-विजय से वह संतोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तिक कर्म को क्षीण करता है।

आदमी के भीतर भावों का संसार है। उसमें शुभ भाव भी हैं और अशुभ भाव भी हैं। जहां क्षमा, मृदुता, ऋजुता, संतोष—ये शुभ भाव भी हैं तो वहीं गुस्सा, अहंकार, माया, लोभ—ये अशुभ भाव भी हैं। आदमी का प्रयास यह होना चाहिए कि अशुभ संस्कार प्रबल न बने और शुभ संस्कारों में प्राबल्य आए। प्रयास के द्वारा असत् संस्कारों को क्षीण और कमजोर किया जा सकता है और शुभ संस्कारों को उजागर भी किया जा सकता है। लोभ एक वृत्ति है। वह सामान्य रूप में रहे तब तो ज्यादा नुकसान वाली बात नहीं होती। यदि वह प्रबल हो जाए तो पता नहीं आदमी को कहां से कहां ले जा सकती है। लोभ सभी दुर्वृत्तियों के मूल में रहता है। जैनविद्या के अनुसार चार वृत्तियां हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। जब साधना का विकास होता है तो ये वृत्तियां धीरे-धीरे क्षीण होती चली जाती हैं। इनमें सबसे बाद में नष्ट होने वाली वृत्ति लोभ है यानी लोभ-वृत्ति सबके नीचे आधारभूत रूप में होती है।

लोभ वृद्धावस्था में भी बना रह सकता है। संस्कृत साहित्य में सुन्दर

कहा गया—**तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा** तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई पर हम स्वयं बूढ़े हो गए। कभी-कभी लोभ इतना प्रबल हो जाता है कि एक-दूसरे का विनाश करने की भी भावना पैदा हो जाती है। दो मित्र व्यापार करने के लिए गए। अच्छी कमाई करके वापिस आ रहे थे। दोनों का निश्चय किया हुआ था कि गांव पहुंचने के बाद घाटा या नफा जो भी होगा उसकी आधी-आधी पांती कर लेंगे। मार्ग में आते-आते एक मित्र के मन में आया कि गांव जाने के बाद तो आधी पांती हो जाएगी। अगर मैं इस मित्र को मार दूं तो सारा धन मुझे ही मिल जायेगा। दोनों मित्र थे पर अब मानो एक दूसरे के शत्रु बन गए, मारने को तैयार हो गए। दोनों ने अपनी-अपनी योजनाएं बनाईं। एक दिन दोनों सो रहे थे। पहला मित्र उठा, छुरा निकाला और सोए हुए मित्र के पेट में घोंप दिया, खून की नदी-सी बह गई। वह वहीं मर गया। सवेरे उसे आगे जाना था। उसे भूख लग गई। मित्र का सामान टटोला। उसमें कुछ लड्डू पड़े थे। सोचा, लड्डू खा लूं, भूख शांत हो जायेगी। दो-तीन लड्डू खाए और सो गया। वह सोया तो ऐसा सोया कि कभी जगा ही नहीं, सदा के लिए सो गया। उस मित्र की यह योजना थी कि मैं मनुहार करके मित्र को लड्डू खिलाऊंगा। विषमिश्रित लड्डू खाने से यह मर जाएगा। किन्तु लोभ ने दोनों को मरवा दिया। आगम में सुन्दर कहा गया—**लोहो सव्वविणासणो** लोभ सबका नाश करने वाला होता है। प्रश्न हुआ लोभ पर विजय कैसे प्राप्त करें? समाधान मिला—**लोभं संतोसओ जिणे** संतोष के द्वारा लोभ को जीतना चाहिए।

आदमी में दो वृत्तियां होती हैं। एक तो काम की वृत्ति, जिसे लोभ की वृत्ति भी कहा जा सकता है और दूसरी गुस्से की वृत्ति। ये दो वृत्तियां आदमी से पाप करवाती हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में इस बारे में सुन्दर वर्णन मिलता है। जब अर्जुन श्री कृष्ण से पूछते हैं कि हे श्री कृष्ण! किसकी प्रेरणा से यह पुरुष पाप करता है? कभी-कभी तो न चाहते हुए भी वह पाप कर लेता है, मानो कि उसके द्वारा कोई जबरदस्ती पाप करवा रहा है। वह पाप करवाने वाला कौन है? श्री कृष्ण ने कहा—अर्जुन! यह काम की वृत्ति और क्रोध की वृत्ति जो रजोगुण से उत्पन्न होने वाली है, आदमी से पाप, अपराध करा देती है। इन दो वृत्तियों पर नियंत्रण हो जाए तो आदमी का भला हो सकता है।

शास्त्रकार ने कहा कि लोभ को जीत लेने से पहला लाभ यह होगा कि संतोष का भाव पैदा हो जाएगा। संतोष परमसुख है, बड़ा सुख है। मोहग्रस्त

आदमी असंतोष में परायण होते हैं। असंतोष का कहीं अन्त नहीं होता। इच्छा बनी रहती है यह चाहिए, वह चाहिए। किन्तु आदमी यह चिन्तन करे कि जब आगे जाना है तो इतनी आकांक्षा क्यों रखे? आगे की भी चिन्ता करे, केवल वर्तमान को ही नहीं देखे। यहां का जीवन तो जैसे-तैसे पार कर देंगे पर आगे अनन्त काल है। हम उस पर अधिक ध्यान दें और वर्तमान को ऐसा बनाएं, ऐसा जीएं, जिससे हमारा भविष्य अच्छा हो सके। वर्तमान अच्छा बना लेंगे तो भविष्य भी अच्छा हो जाएगा। भविष्य को देखते हुए वर्तमान में जीने की शैली का निर्धारण करना चाहिए।

शास्त्रकार ने लोभ-विजय का दूसरा लाभ यह बताया है कि लोभ वेदनीय कर्म का बन्धन नहीं होगा और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म क्षीण हो जाएगा। इसलिए आदमी लोभ पर विजय प्राप्त करने की साधना करे। साधना करने से अवश्य ही मंजिल प्राप्त हो सकेगी।

४०

राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय से क्या मिलेगा?

प्रश्न किया गया—**पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?** भंते! प्रेयस, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं पंचविहं अंतरायं एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं केवलवरनाण-दंसणं समुप्पाडेइ। जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बंधइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए निज्जिण्णं तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ।**

प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मों में जो कर्म ग्रन्थि है, उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया उस अट्ठाईस प्रकार वाले मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर वह पांच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पांच प्रकार वाले अंतराय—इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनंत, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को उत्पन्न करता है। जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्यापथिक-कर्म का बंध होता है। वह बंध सुख-स्पर्श (पुण्यमय) होता है। उसके स्थिति दो समय की होती है। वह प्रथम समय में बंधता है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है और तीसरे समय में वह निर्जीण हो जाता है। वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अंत में अकर्म भी हो जाता है।

एक रागात्मक वृत्ति होती है और दूसरी द्वेषात्मक वृत्ति होती है। जब राग-द्वेष का प्राबल्य होता है, उसे जैन वाङ्मय की दार्शनिक भाषा में अनन्तानुबंधी कहा गया है। इस स्थिति में मिथ्यादर्शन बना रहता है। राग-द्वेष का प्राबल्य और मिथ्यादर्शन दोनों का संबंध है। राग-द्वेष का प्राबल्य मिथ्यादर्शन को टिकाने वाला होता है। राग-द्वेष की प्रबलता आधार है और मिथ्यादर्शन आधेय है। ज्यों-ज्यों आदमी प्रेयस और द्वेष यानी राग-द्वेष को जीतने की साधना करता है, मिथ्यादर्शन स्वतः समाप्त हो जाता है। जब राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन, ये तीनों विजित हो जाते हैं तब साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए अभ्युत्थान करता है। साधना करते-करते व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मों को नष्ट करने की दिशा में आगे बढ़ता है। आगे बढ़ते-बढ़ते सबसे पहले मोहनीय कर्म का समूल नाश कर देता है। इसके बाद ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, अंतराय कर्म को भी नष्ट कर देता है। जैसे ही चारों कर्म नष्ट होते हैं, व्यक्ति को अनुत्तर, अनन्त, प्रतिपूर्ण, निरावरण, अंधकार रहित, सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, जिसके द्वारा संपूर्ण लोक और अलोक को जाना जा सकता है। जब तक वह सयोगी यानी मन, वचन और काय की प्रवृत्ति वाला रहता है, तब कर्म का बंध तो होगा, किन्तु बहुत हल्का होगा। उसे पारिभाषिक नाम दिया गया है—ईर्यापथिक। एक समय में बंधन होता है, दूसरे समय में वेदन होता है और तीसरे समय में क्षीण हो जाता है। यों बढ़ते-बढ़ते एक समय ऐसा आएगा जब कर्म बंध होना रुक जाएगा और वह अबंध अवस्था को प्राप्त हो जाएगा। अबंध अवस्था में जाने के बाद पांच ह्रस्वाक्षर अ आ इ उ ऋ के उच्चारण जितने समय के शेष आयुष्य को भोगकर चार कर्म वेदनीय, आयुष्य, नाम और

गोत्र कर्म को एक साथ नष्ट कर देता है। इसके साथ ही यह पौद्गलिक शरीर छूट जाता है। आत्मा निकलती है और अप्रतिहत गति के द्वारा सीधी ऊपर पहुंच जाती है। मानो आकाश का स्पर्श किए बिना ही एक समय में मोक्ष में पहुंच जाती है और सिद्ध, बुद्ध व सब दुःखों का अन्त करने वाली बन जाती है। इस स्थिति की प्राप्ति राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन को नष्ट करने के बाद साधना करते-करते होती है।

राग और द्वेष में राग ज्यादा सूक्ष्म होता है। उसको पकड़ना कुछ कठिन होता है। राग के चार प्रकार किए जा सकते हैं—

१. परस्त्री और भोग्य पदार्थों के प्रति होने वाला राग।

२. स्वपत्नी और परिवारिकजन आदि के प्रति होने वाला राग।

३. अपने शरीर के प्रति, दूसरों के शरीर के प्रति और दुःखी व्यक्तियों के प्रति होने वाला राग।

४. धर्माचार्य और साधर्मिक साधु के प्रति होने वाला राग।

राग के स्तर में बहुत अन्तर होता है। इन चारों प्रकार के राग को एक समान नहीं तोला जा सकता। कोई राग अप्रशस्त होता है और कोई राग प्रशस्त होता है। आचार्य शय्यंभव के जीवन का प्रसंग देखें। जब उनका पुत्र शिष्य मुनि मनक दिवंगत हो गया, तब आचार्य शय्यंभव की आंखें कुछ नम हो गईं। संतों ने निवेदन किया—गुरुदेव! आप महान साधक हैं, हम सबको संबोध देने वाले हैं, एक शिष्य का स्वर्गवास होने पर आपके मन में इतनी कमजोरी कैसे आ गई? गुरु ने कहा—शिष्यों! तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु इसके साथ मेरे दो संबंध थे—गुरु-शिष्य का नाता भी था और संसारपक्षीय पिता-पुत्र का नाता भी था। शिष्यों ने कहा—गुरुदेव! यह बात आपने पहले क्यों नहीं बताई? यदि पहले बताते तो हम उसका ध्यान रखते, उससे काम नहीं करवाते, उसका विशेष सम्मान रखते। गुरु ने कहा—शिष्यो! फिर उसके कर्मों की निर्जरा कैसे होती? यहां कहने का तात्पर्य है कि गुरु के मन में शिष्य के प्रति और शिष्य के मन में गुरु के प्रति रागभाव हो सकता है। आखिर वह है राग। इसलिए गुरु के प्रति शिष्य के मन में होने वाला राग भी त्याज्य है और शिष्य के प्रति गुरु के मन में होने वाला राग भी त्याज्य है। जब तक पूर्णतया रागभाव नहीं छूटेगा, तब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। केवलज्ञान की

प्राप्ति में बाधक है—रागभाव। द्वेषभाव भी साथ में जुड़ा हुआ है। राग-द्वेष दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है और आत्मा परम कल्याण की भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है।

प्रेक्षाध्यान साधना में कहा जाता है—केवल देखो। किसी भी संवेदन के प्रति न प्रियता या रागभाव करो और न अप्रियता या द्वेषभाव करो। जो संवेदन अनुभव हो, उन्हें ज्ञाता-द्रष्टा भाव से स्वीकार करो, यह अध्यात्म की साधना है। आदमी राग-द्वेष मुक्त होकर जीना सीखे। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्यशञ्जिघ्रन्नश्नन्गाच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रिययार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।

तत्त्व जानने वाले को देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, भोजन करते, गमन करते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, आंखें खोलते और मूंदते समय निःसंदेह यह समझना चाहिए कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं, सब इन्द्रियां अपना-अपना काम कर रही हैं। साधक यह सोचे कि मैं केवल ज्ञाताद्रष्टा बना रहूं, राग-द्वेष में न जाऊं। साधक कैसा होना चाहिए? जैन वाङ्मय में कहा गया है—**पयणुकोहमाणमायालोहे** जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो गए यानी बहुत हल्के हो गए। राग-द्वेष को पतला करना साधना का क्रम है।

शिष्य गुरु के पास गया और निवेदन किया—गुरुदेव! मुझे तेले का प्रत्याख्यान करा दें। गुरु ने कहा—पतली पाड़। शिष्य ने लंबी तपस्या का पारणा किया। फिर तप का प्रत्याख्यान करने गुरु के पास पहुंचा। गुरु—पतली पाड़। शिष्य ने बहुत तपस्या की, शरीर बहुत पतला हो गया। वह जब भी गुरु के पास जाता, गुरुदेव फरमाते—पतली पाड़। आखिर शिष्य को गुस्सा आ गया। उसने अंगुलि को थोड़ा सा मोड़ा और अंगुलि टूट गई। शिष्य ने कहा—गुरुदेव! अब और कितना पतला करूं शरीर को। गुरु ने कहा—वत्स! इस आवेश को पतला करो। मात्र शरीर को पतला करने से कल्याण नहीं होगा, राग-द्वेष को पतला करने से कल्याण होगा।

तपस्या के द्वारा औदारिक शरीर पतला होता है, किन्तु साथ में कार्मण शरीर भी कमजोर बने। तपस्या के साथ कषाय को पतला बनाने का प्रयास करे। आदमी के सामने यह लक्ष्य रहे कि मुझे राग-द्वेष के भाव को कम करना है। यदि आधा घण्टा बात करनी हो तो यह ध्यान रहे कि वार्तालाप के दौरान मैं राग-द्वेष में न जाऊं। बात करते-करते मैं कभी अहंकार, गुस्सा, वंचना, लोभ आदि में न जाऊं। शांत भाव के साथ बात करूं।

आदमी यह आत्मचिन्तन करे, परीक्षण करे कि मेरे भीतर राग-द्वेष का भाव कितना है? फिर संकल्पपूर्वक उसे कम करने का प्रयास करे और वीतरागता की दिशा में आगे बढ़े। वीतरागता से ही कल्याण हो सकेगा।

उत्तराध्ययन के 29वें अध्ययन पर आधारित प्रवचनमाला

✦ सत्य से क्या मिलेगा?

✦ क्रोध विजय से क्या मिलेगा?

✦ अहं विजय से क्या मिलेगा?

✦ संतोष से क्या मिलेगा?

✦ इन्द्रिय संयम से क्या मिलेगा?

✦ प्रत्याख्यान से क्या मिलेगा?

✦ गुप्ति से क्या मिलेगा?

✦ वीतरागता से क्या मिलेगा?

आदि मन में संशय पैदा करने वाले
अनेक प्रश्नों के समाधान हैं प्रस्तुत पुस्तक में ...

विज्जा चरणं पमोक्खो
जैन विश्व भारती लाडनूं

ISBN 817195163-5

₹ 70